आश्रम-दिग्दर्शन

वि नो बा

•

सर्व सेवा संघ प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी

निवेदन

आश्रम-व्यवस्था की आवश्यकता

मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का शायद ही कोई क्षेत्र राज्य के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव से बचा हो। आज तो All Pervading God की तरह राज्य (State) का नियंत्रण और अंकुश सब पर छाया हुआ है। राज्य का बुनियादी आधार या संगठन है दंड और हिंसा। इसलिए दुनिया के सारे राज्य मानव-समाज पर हिंसा और दंड शक्ति के बल पर शासन चला रहे हैं। परन्तु आज हिंसा संगठित हिंसा और संहारक हिंसा सब शासन करने में असफल हुए हैं। हिंसा पर से राज्यव्यवस्था विचारकों तथा दार्शनिकों का विश्वास उठ गया है। दंड शक्ति से राज्य चलाने के प्रयोग भी आज चल रहे हैं परन्तु उसका भी अंतिम संगठन पुलिस, मिलिटरी अर्थात् हिंसा याने भौतिक शक्ति (Physical strength) ही है। दूसरे, दंड का अधिकार सामान्य व्यक्तियों को न होने से दंड-शक्ति भी कुंठित हो रही है। इसलिए आज हिंसा शक्ति की विरोधी और दंड-शक्ति से भिन्न लोकशक्ति पैदा होती है, इसी व्यक्ति और समाज शासन से मुक्त हो सकता है। State will wither away—राज्य का लय हो जायगा ऐसे माननेवाली दो ही जमातें हैं—साम्यवादी और सर्वोदयी। दोनों राज्य रहित समाज की कल्पना करती हैं। परन्तु सवाल यह उठता है कि यदि राज्य नहीं होगा तो क्या अराजकता पैदा होगी? रिक्तता (Vacuum) तो समाज में रहेगी नहीं। शासन का स्थान अनुशासन ले सकता है। समाज एवं व्यक्तियों में ज्यों-ज्यों अनुशासन व व्यवस्था बढ़ती जायगी त्यों-त्यों शासन या राज्य शिथिल अथवा गौण होता जायगा। इस प्रक्रिया और पद्धति से एक दिन हिंसा-रहित, दंड निरपेक्ष शासन मुक्त समाज अस्तित्व में आ सकता है।

इस दिशा में आश्रम व्यवस्था को लेकर प्रयोग और प्रयत्न भारतवर्ष में चलते हुए हैं। आश्रम धर्म और आश्रम-संस्था ने व्यक्ति और समाज को अनुशासित करने व जनमानस (Public opinion) को तैयार करने में काफी सफलता प्राप्त की है। इसलिए आज हमें फिर से आश्रम-धर्म के पुनर्स्थापन (Reorientation) के बारे में सोचने की जरूरत पैदा होती है।

आश्रम का विकास

आश्रम संस्था भारतवर्ष की विशेषता है। यह शब्द भी अनूठा है। सब प्रकार के परिश्रमों का सामंजस्य जिसमें होता है, वह आश्रम है। श्रम शब्द से ही आश्रम शब्द बना है। 'आ' शब्द व्यापकता का सूचक है। सब प्रकार के व्यापक श्रम जहाँ समन्वयपूर्वक किये जाते हैं वह आश्रम है।

आश्रम-धर्म एक वैज्ञानिक व्यवस्था है। यह व्यवस्था व्यक्ति और समाज दोनों के लिए बनायी गयी थी। जिस उम्र में औसत व्यक्ति में जो भाव उसके उत्थान के लिए आवश्यक हैं उन्हींका निरूपण उसमें है। आश्रम की कल्पना आश्रम की मान्यता आश्रम-धर्म और आश्रम-संस्था का विकास भी क्रमशः हुआ है। फिर भी आश्रम धर्म कितना प्राचीन है यह बतलाना कठिन है।

वेद उपनिषद् रामायण, महाभारत तथा पुराणों में इसका काफी उल्लेख है। यहाँ आश्रम-संस्था को इतना गौरव प्राप्त हुआ है कि त्याग शान्ति, एकाग्रचित्तता, तपश्चर्या सादगी चिंतन मनन निरभिमानता आदि जीवन मूल्यों का आश्रम प्रतीक बन गया है। आश्रमों में गहन मनोविज्ञान, भौतिक विज्ञान आदि जीवन के विविध तत्त्वों का अन्वेषण संशोधन तथा प्रयोग होता था। इनमें ज्ञान विज्ञान और साहित्य का सृजन होता था। प्रयोगों के परिणाम समाज पर लागू किये जाते थे। व्यक्तिगत प्रयोगों के

साथ सामाजिक प्रयोगों के लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास, ऐसे चार आश्रमों की व्यवस्था हुई। इसलिए आश्रम-संस्था भारतीय जीवन का सामाजिक अंग बन गयी।

आश्रमों की पुनः स्थापना

परिस्थितियों के अनुसार आश्रम का रूप समय-समय पर बदलता रहा। उनका उन्मुक्त वातावरण बार-बार धूमिल हुआ। उनमें संकीर्णता भी आयी। यहाँ तक कि सामाजिक प्रयोग करनेवाले चारों आश्रमों का आज अभाव है। फिर भी भारत के जागरण के साथ आध्यात्मिक और भौतिक प्रयोगों की दृष्टि से यहाँ-वहाँ नये आश्रमों की स्थापनाएँ हुई। व्यक्तिगत और समूहगत आश्रम-जीवन के प्रयोग शुरू हुए, परन्तु साक्षात् जनता के साथ सम्बन्ध रखकर विश्व-हित की अविरोधी भारत की सेवा करने और देश को सामूहिक अहिंसा में दीक्षित करने का प्रयोग गांधीजी ने किया। समाज में नयी-नयी भावनाएँ, विचार तथा कार्यक्रम प्रकट किये और उसके लिए जनमन भी तैयार किया।

उसी क्रम को विनोबाजी आज जगत् के संदर्भ में भूदान, ग्रामदान, शांति-सेना आदि के प्रयोग से विकसित कर रहे हैं। ब्रह्म-साक्षात्कार को लक्ष्य में रखकर अपनी भूदान-यात्रा में भारत के विविध स्थानों पर उन्होंने आश्रमों की विविध कल्पनाएँ रखीं। उन्हीं ने भारत के कुछ स्थानों पर भिन्न-भिन्न समय पर ये आश्रम क्रमानुसार शुरू हुए :

नाम	स्थान	प्रान्त	समय
१ संगम ब्रह्म विद्या-मंदिर	—	—	८१ '५१
२. समन्वय आश्रम	बोधगया	बिहार	१९५४
३ ब्रह्म विद्या मंदिर	पवनार	महाराष्ट्र	१९५९
४ प्रस्थान आश्रम	पठानकोट	पंजाब	अगस्त
५ विसर्जनाश्रम्	इन्दौर	मध्यप्रदेश	१९६०

६ विसर्जन आश्रम इन्दौर मध्यप्रदेश १५-८-६
७ मैत्री आश्रम मार्थ लखीमपुर असम ५-३-'६२

आश्रमीय जनों में यह विचार चला कि आपस में हमारा संपर्क बढ़े और विनोबा के सान्निध्य में आश्रम-जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं और प्रश्नों पर विचार विमर्श हो। इसलिए विनोबा की असम-पदयात्रा में कामरूप जिले के पड़ावों पर ता. २१ जून से ४ जुलाई '६२ तक आश्रम गोष्ठी हुई। उसमें उपर्युक्त आश्रमों के अलावा सर्वोदय आश्रम रानीपतरा (पूर्णिया) लक्ष्मी आश्रम कौसानी (अल्मोड़ा); गोपुरी आश्रम कणकवली (रत्नागिरी) आदि के भाई बहन भी शरीक हुए। असम सर्वोदय मंडल तथा मैत्री-आश्रम के कुशल आतिथ्य और संगम ब्रह्म विद्या-मंदिर के सजीव प्रेरक सान्निध्य ने सारी गोष्ठी को सौम्य, सात्त्विकता और सार्थकता प्रदान की। प्रत्येक ने सह-जीवन में आत्मीयता का अनुभव किया और परस्पर अधिक निकटता महसूस की। यह अपने ढंग का अनूठा आयोजन था। इन पाँच दिनों के पावन स्पर्श से आश्रमीय जन पुरुषार्थ की प्रेरणा लेकर लौटे।

आश्रम-जीवन के बारे में विनोबाजी का जो चिंतन-प्रवाह प्रवचनों प्रश्नोत्तरों और चर्चाओं में प्रकट हुआ उसे विषयवार आयोजित (अरेंज) करके यह 'आश्रम दिग्दर्शन' पुस्तक प्रकाशित की जा रही है। जिज्ञासुओं को यह उपयोगी प्रतीत होगी ऐसी आशा है।

पुस्तक के अंत में श्री शिवाजी महाराज की 'आश्रम-समर्पण' नामक मराठी कविता और उसका हिन्दी अर्थ जोड़ दिया गया है, जो आश्रम की समग्र कल्पना का सम्यक् चित्र प्रस्तुत करती है।

साधना केन्द्र
राजघाट, वाराणसी
१६ मार्च १९६३

—कृष्णराज

अनुक्रम

•

ब्रह्म सत्यम्
जगत् स्फूर्ति
जीवनं सत्य-शोधनम्

के पास रहनेवाले शिष्यों में कोई विषमता नहीं थी, चाहे राजा का लड़का हो या रंक का सब साथ रहते थे, साथ श्रम करते थे।

आश्रम-जीवन प्रयोगशाला

आश्रमों को मैंने 'लेबोरेटरी के प्रयोग' कहा है। इस पर से ध्यान में आयेगा कि उनका जनता के साथ क्या संबंध था। लेबोरेटरी बाजार में नहीं खोली जाती एकांत स्थान में ही खोली जाती है। लेकिन उसमें जो प्रयोग होते हैं, उनके लिए जो सामग्री एकत्र की जाती है, वह सब सामाजिक होती है। प्रयोग तो एकांतिक परिस्थिति में किये जाते हैं और उससे जो नतीजे निकलते हैं, उनका समाज पर अमल किया जाता है। इस तरह आश्रम समाज से न दूर थे और न नजदीक। भगवान् बुद्ध ने ऐसे ही आश्रम बनाये थे। उन्होंने सारनाथ में आश्रम बनाया था, जो प्राचीन वाराणसी से पाँच मील दूर है। उसमें उनकी क्या दृष्टि रही होगी? वाराणसी नगरी में पंडित विद्वान्, ज्ञानी रहते थे। शायद हिन्दुस्तान का सबसे प्राचीन शहर नगर वही है। उससे भी प्राचीन कुछ गाँव होंगे, लेकिन वे अज्ञात हैं। काशी का उल्लेख उपनिषदों में मिलता है। सारनाथ में आश्रम इसीलिए बनाया गया ताकि काशी का उपद्रव न हो। यानी शहर के जीवन का संपर्क तो रहे लेकिन संसर्ग न पहुँचे। इसी तरह सेवाग्राम है, जो वर्धा के नजदीक है। पवनार है, जो वर्धा के नजदीक है। वर्धा शहर कितना ही बढ़ जाय, तो भी उसमें और पवनार में कुछ फासला रहेगा ही। शहर से संपर्क रखना जरूरी है, लेकिन कुछ फासला भी रहना चाहिए। इस योजना के गुण-दोषों पर हम सोचें।

आश्रम वृत्ति-प्रधान हो, कर्म-प्रधान नहीं

हम अपने आश्रमों को वृत्ति-प्रधान नहीं, कर्म प्रधान बनाते हैं। कर्म के लिए इसको रख लिया, उसको रख लिया—यह सब चलता है। इसे आश्रम नहीं इस्टैब्लिशमेन्ट कहना चाहिए। आश्रम दूसरी चीज है।

आश्रम में श्रम-परिहार होता है। विष्णु-सहस्रनाम में कहा है 'आश्रम' 'श्रमः'। भगवान् का नाम ही है आश्रम। आश्रम में श्रम करनेवाले नौकर नहीं, श्रमण होते हैं। श्रम सिद्धान्त को माननेवाले श्रमिक ये नहीं हैं, ये तो श्रमनिष्ठ हैं। इसलिए यहाँ श्रम महसूस नहीं होता। गांधी ने कहा है 'श्रम ही धर्म हो जाता है।

आश्रमोत्थान में गांधीजी की देन

बीच के जमाने में आश्रमों का स्वरूप काम रुक गया और पश्चात् संस्कृति का ह्रास हुआ। सारे आश्रम समाप्त हो गये। शंकर, रामानुज के मारफत कुछ मठ रह गये। उन्होंने थोड़ी जागृति रखी। लेकिन सामाजिक प्रयास करनेवाले आश्रम नहीं रहे। उसका आरंभ इस जमाने में गांधीजी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, स्वामी श्रद्धानन्द और अरविन्द आदि ने किया। लेकिन जनता के साथ संबंध जोड़कर उसका व्यापक प्रयोग गांधीजी ने ही किया। उन्होंने एक चीज समाज के सामने स्पष्टता से रखी। उन्होंने कहा कि आश्रम में हमें किन्हीं हित की अविरोधी सेवा करनी है और वह सेवा उस क्षेत्र में करनी है, जहाँ हम रहते हैं। यानी किन्हीं भी अविरोधी भारत की सेवा करनी है। उस सेवा के लिए हम स्वावलंबन का पालन करेंगे। इसमें स्वदेशी की बात नहीं थी। पर दुनियाभी भक्त विश्व की बात थी।

निरपेक्ष नैतिक मूल्यों में श्रद्धा

अध्यात्म मूलभूत श्रद्धा है। उसके जो कुछ अंश ध्यान में आते रहते हैं, वे आपके सामने रखने की कोशिश कर रहा हूँ। एक श्रद्धा तो यह है कि पूरे जीवन के लिए निरपेक्ष नैतिक मूल्यों—'फेथ इन दि एब्सोल्यूट मॉरल वैल्यूज़' की जरूरत है। इस प्रकार के शाश्वत नीति-मूल्यों को मानने में सब तरह से लाभ है। उसे छोड़ने में सब प्रकार से हानि है। यह श्रद्धा इसलिए रखी जायगी कि आज के युग में और किसी भी काल में मानव मन को शाश्वत नीति कभी जँची नहीं। हिंसा कुछ अवस्थाओं में अनिवार्य मानी गयी थी। यह तो एक मिसाल है। ऐसे ही जो दूसरे नैतिक मूल्य शाश्वत माने जायेंगे उनमें अपवाद निकालने की जरूरत मनुष्य को महसूस हुई। और बुद्धि से यह सिद्ध करना असंभव हुआ कि आप सत्य पर अड़े रहिये और आपका गला रेता जा रहा है, फिर भी आप विजयी हैं। इसीलिए इसमें श्रद्धा रखने की बात आती है।

जीवन की अखण्डता (मृत्यु के बाद)

अध्यात्म श्रद्धा का दूसरा विषय यह होगा कि मृत्यु के बाद भी जीवन है। मृत्यु से जीवन खण्डित नहीं होता। इसे किस रूप में रखना हो, यह तफसील का विषय है, बुद्धि से उसका निर्णय नहीं होनेवाला है। तफसील में विचार भेद हो सकता है। लेकिन जीवन मृत्यु से खण्डित नहीं होता, उसके बाद भी रहता है—चाहे सूक्ष्म रूप में रहे या स्थूल में रहे, निराकार रूप में रहे या साकार रूप में, देहधारी रहे या देहविहीन रूप में। ये सब भेद हो सकते हैं और होंगे। लेकिन जीवन अखण्ड है। आखिर

है कि यह विषय श्रद्धा का है। बुद्धि कुछ हद तक उसमें काम करेगी और फिर वह टूट जायगी। जहाँ वह टूट जायगी वहाँ श्रद्धा काम करेगी। इस प्रकार जिस मनुष्य में श्रद्धा नहीं है, उसे आगे का दर्शन नहीं होगा। जहाँ तक बुद्धि की पहुँच है, वहीं तक ग्रहण होगा।

प्राणिमात्र की एकता और पवित्रता

तीसरी श्रद्धा है प्राणिमात्र की एकता और पवित्रता—'यूनिटी एण्ड सैक्टिटी ऑफ लाइफ'। यह अंग्रेजी शब्द इसलिए कि आज अंग्रेजी की परिभाषा चलती है। शिक्षितों को समझने में इससे मदद मिलती है—यद्यपि मुझे संस्कृत शब्दों की आदत है। प्राणिमात्र की एकता और पवित्रता को जीवन में मानना आसान है। यद्यपि जीवन के लिए हम जन्तुओं का संहार करते हैं, असंख्य जन्तुओं का हमसे घात होता है और सामान्य आचरण में ऊँच-नीच का भेद माना जाता है। यह सब है, लेकिन यह श्रद्धा होनी चाहिए कि प्राणिमात्र एक है और पावन है।

विश्व में व्यवस्था-बुद्धि

चौथी श्रद्धा यह है कि विश्व में व्यवस्था है, अर्थात् रचना है, बुद्धि है। रचना करने से इसकी सिद्धि होती है। लेकिन उसे ईश्वर नाम देने का आग्रह हमारा नहीं है तो भेद भी नहीं है। इसीका अर्थ होता है परमेश्वर पर श्रद्धा। लेकिन इतना मानना बस होगा और यह मानना होगा कि विश्व में एक रचना है, व्यवस्था और बुद्धि है।

पूर्णता का अनुभव शक्य

पाँचवीं श्रद्धा यह है कि मानव जीवन में पूर्णता का अनुभव हो सकता है। व्यक्तिगत तौर पर हमने कई महापुरुष देखे हैं, महापुरुषों की संगति में रहने का अवसर हमें मिला है। फिर भी पूर्ण मानव मिले नहीं होगा।

लेकिन मानव जीवन में पूर्णता का अनुभव हो सकता है पर एक श्रद्धा का
विषय है।

ये पाँच श्रद्धाएँ आपके सामने रखी गयीं। इनके विषय में भी दी
जाँचना चाहिए। श्रद्धा भी सोचकर ही रखी जायगी। इसलिए एक-दूसरे
के विचारों को एक दूसरे के सामने रखना चाहिए। पर जब किसी वस्
करनी चाहिए। तात्पर्य यह कि इसे अपने जीवन में लाने का प्रयत्
करना चाहिए।

प्रार्थना अनुभव का विषय

इन दिनों प्रार्थना आदि के बारे में बहुत प्रश्न खड़े होते हैं। मैं बहस में नहीं पड़ूँगा क्योंकि वह अनुभव का विषय है, बहस का नहीं। भगवान् के नाम-स्मरण से बढ़कर किसी भी दूसरी चीज में मैंने ताकत महसूस नहीं की।

ईश्वर, काल, समाज और व्यक्ति की पारस्परिकता

आज काल-प्रवाह ईश्वर के अनुकूल है। कभी-कभी वह ईश्वर के खिलाफ जाता है, तब काल का खण्डन होता है क्योंकि ईश्वर का खण्डन कभी नहीं हो सकता। फिर प्रश्न हो जाता है। विष्णु-सहस्रनाम में एक शब्द आया है—'कालनेमिहा'। जहाँ काल ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध जाता है, वहाँ काल खण्डित होता है और ईश्वर टिकता है। जहाँ समाज प्रवाह काल प्रवाह के खिलाफ जाता है, वहाँ समाज खण्डित होता है, काल टिकता है। जहाँ व्यक्ति समाज प्रवाह के खिलाफ जाता है, वहाँ व्यक्ति खण्डित होता है, समाज टिकता है। इस वक्त काल और ईश्वर दोनों एक हो गये हैं और समत्व की माँग कर रहे हैं। इससे बढ़कर कोई माँग नहीं हो सकती। एक-एक जमाने में एक-एक गुण की महिमा होती है। वैसे कोई गुण अकेला नहीं आता, अपने सारे परिवार के साथ आता है। गुण परिवार के साथ रहता है, लेकिन किसी जमाने में किसी गुण की विशेष महिमा होती है और उससे सारा समाज प्रभावित हो जाता है। न हो तो खण्डित हो जाता है। भगवान ने कहा है 'समत्वमाराधन-मच्युतस्य'। गीता उसको महत्त्व देती है। इसीको मध्यवर्ती गुण माना है।

आज काल-प्रवाह समता चाहता है। ईश्वर तो समता चाहता ही है। ईश्वर में निःशेष समत्व है। ऐसी स्थिति में हमारे सारे विचारों का आधार यह न रहा तो हम खण्डित हो जायेंगे। अगर हम काल-प्रवाह का और ईश्वर का नहीं सोचेंगे और लोक प्रवाह का ही सोचेंगे, तो लोक प्रवाह खण्डित होगा और हम भी खण्डित हो जायेंगे। आज लोक प्रवाह हमारे लिए अनुकूल नहीं है, लेकिन परमेश्वर ने अगर प्रश्न नहीं सोचा है तो लोक-प्रवाह को अनुकूल होना ही है और उसने प्रश्न की बात नहीं सोची है, ऐसा कह सकते हैं। क्योंकि अगर वह ऐसा सोचता तो मेरा भी विचार प्रश्नानुकूल बन जाता। वह सारे समाज को सब लोगों को प्रश्न की प्रेरणा देगा और कुछ लोगों को उस प्रेरणा से बचायेगा तो प्रश्न कैसे होगा? क्योंकि वह मुझे प्रेरणा दे रहा है विषमता का विरोध करने की, समता को लाने की तो मुझे लगता है कि ईश्वर प्रश्न नहीं चाहता। यह मेरा गणितवत् तर्क है। अगर वह प्रश्न नहीं चाहता है, तो समाज को काल प्रवाह को और ईश्वर के अनुकूल होना ही है।

व्यापक अनुभव से ईश्वर-सम्पर्क

हिन्दुस्तान के लोग तो भावुक हैं ही, लेकिन आप देखिये कि दुनिया-भर में किस विचार की सबसे ज्यादा प्रतियाँ खपी हैं। एंजल्स, लेनिन आदि का साहित्य खपता है लेकिन पाठक के सामने उसका कोई हिसाब नहीं है। याने यूरोप और अमेरिका में भी अन्तरप्रवाह आध्यात्मिक विचार का ही है। वह न होता तो आज दुनिया में जो भूख पैदा हुई है कि सारी दुनिया एक हो वह पैदा न होती। इसलिए आज दुनिया उसी हालत में है, जिसमें हम हैं। ऐसी हालत में हमारा यह तर्क करना कि प्रार्थना में बैठने पर मन इधर-उधर जाता है तो प्रार्थना में बैठे ही क्यों बिलकुल वाहियात है। महान् पुरुषों का सारा अनुभव पड़ा है और काल प्रवाह और ईश्वर प्रवाह एक ही तरफ जा रहे हैं, तो आपका एक

छोटा-सा अनुभव किस काम का है। उसका क्या महत्त्व है! इसलिए हमें श्रद्धा रखनी चाहिए और ईश्वर से सीधा सम्पर्क स्थापित करना ही चाहिए।

प्रार्थना में आग्रह नहीं

प्रार्थना के आकार प्रकार आदि के बारे में मुझे कुछ नहीं सुझाना है। जिस मुँह को जो शब्द सीखते हैं, वह उन्हीं शब्दों द्वारा प्रार्थना करे। मैं यह नहीं कहता कि हम लोगों ने जो आश्रम बनाये हैं, उनमें प्रार्थना की एकता हो। इस बात को मैं अनिवार्य नहीं समझता। सब कुछ सहज भाव से हो। हमने यहाँ पर जो प्रार्थना चलायी है, उसमें ईशावास्य उपनिषद्, स्थितप्रज्ञ के लक्षण और नाम-माला है। नाम-माला में भगवान् के कुछ नाम आ जाते हैं, जो सारी दुनिया में मानव समूह में चलते हैं। सिर्फ भारत के ही नहीं, सारी दुनिया के नामों का उसमें समावेश है। फिर सब बोले जाते हैं। यह प्रार्थना का अंग नहीं है। उसमें सिर्फ भाव है। उसे रोज बोलना चाहिए, ऐसी बात नहीं है। बोलने पर असर करेगा ऐसा भी नहीं है। वह बाधक भी हो सकता है। लेकिन पाठ ध्यान के लिए भी बोलते हैं, तो वह व्यर्थ का ही काम नहीं होता। नाम माला के लिए भी मेरा आग्रह नहीं है। दुनिया में अनेक नाम चलते हैं। लोग विष्णुसहस्रनाम ले सकते हैं और भी सहस्रनाम ले सकते हैं।

भारत की निधि

इस प्रार्थना में ईशावास्य और स्थितप्रज्ञ के लक्षण बोलते हैं। ये दोनों भाग भारत की सर्वश्रेष्ठ वस्तु मानी जा सकती है। मैंने सम्पूर्ण भारत का जो साहित्य देखा और सब भाषाओं का जो श्रेष्ठ साहित्य देखा, संस्कृत का भी देखा है तो उन सबमें इन दो से बढ़कर कोई चीज नहीं मिली। इसका मतलब यह नहीं कि उनको हमेशा उच्चारण करना चाहिए।

मन्त्रों की धामी छोड़ें तो भी पूर्ण समाधान मिल सकता है लेकिन उन सबके मूल में ये दो चीजें हैं। वैसे नामघोषा से तुकाराम के वचनों से भी पूर्ण समाधान मिलेगा लेकिन मूलभूत आधार, कोसिस में इन दो से बढ़कर कोई चीज नहीं है। फिर भी इनका रोज उच्चारण होना चाहिए, इस आवश्यकता का प्रतिपादन मैं नहीं करता हूँ। मैंने यह सब इसलिए कहा कि हमने इन दो को क्यों चुना, इसका कारण आप समझ सकें।

प्रार्थना से रुकावट नहीं

प्रार्थना में रोज बड़ी-बड़ी चीज बोलते हैं। उससे एक प्रकार की प्रतिक्रिया आती है इसलिए उस वक्त अगर दूसरा कुछ काम करें तो क्या हर्ज है? आजकल ऐसे अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं। कुछ जमातें प्रार्थना में नहीं आतीं। उनको प्रार्थना में आकर्षण नहीं है। लेकिन हम जब मेवों में काम करते थे तो उनके साथ नमाज में भी भाग लेते थे कुरान भी पढ़ते थे भार हम उससे प्रेरणा मिलती थी। उनकी प्रार्थना गाते हुए हमारी आँखें गीली हो जाती थीं। प्रार्थना को किसी संप्रदाय की चीज मान लेने का कोई भाव हमारे मन में नहीं है। मैं मौन प्रार्थना को बेहतर मानता हूँ। पर मैं यह नहीं मानता कि कुछ जमातें आयें और आक्रमण हों, इसलिए विशालता के श्लोक छोड़ दिये जायें। प्रार्थना में लोग क्यों नहीं आते, इसका कारण ढूँढना चाहिए। यह क्या है? हम मूलतः (essentially) हिन्दू हैं ऐसा कुछ लोग मानते हैं, हमारे साथी भी मानते हैं लेकिन हम तो कहते हैं कि हम भारतीय हैं। यह हमारा दावा है। हम उन दावे को नहीं छोड़ते। भारतीय के नाते ही हम 'जय जगत्' की पुकार कर रहे हैं। हिन्दू होने में दोष क्या है? बल्कि हमने हिन्दू धर्म की ऐसा देखा जो किसी ग्रन्थों का महापुरुष का आधार नहीं मानता किसी पुरुष विशेष को नहीं मानता। यह मैंने विभिन्न धर्म सम्प्रदाय के नाता व मानने भी कहा है। जो आदर्श को मालूम नहीं

मानेगा वह क्रिश्चियन नहीं होगा यह निश्चित है। जो 'बुद्धं शरणं गच्छामि' नहीं करेगा, वह बौद्ध नहीं होगा, यह पक्की बात है। भगवान् को तो छोड़ ही दिया, लेकिन बुद्ध की शरण की बात कही गयी है। हिन्दू धर्म में यह नहीं है। उसमें आप कृष्ण का नाम लें न लें परवाह नहीं। रामायण पढ़ें, न पढ़ें, हर्ज नहीं। चौदों ग्रन्थ हैं, उनको मानें न मानें कोई बात नहीं। आखिर तो संन्यास ही है। हिन्दू धर्म कहता है 'वेदानपि संन्यसेत्'—वेदों का भी संन्यास करना होगा। वेद की पोथी भी गंगा जल में अर्पित करनी होगी या किसी योग्य मनुष्य को देनी होगी। अपने पास रखने की बोझ होने की जरूरत नहीं है। हिन्दू धर्म में जो तांत्रिकता है उसे हम छोड़ें। उससे तो हमें मुक्त ही होना है। लेकिन सब धर्मों में एक आध्यात्मिक अंश है। उनमें भी हिन्दू धर्म काफी मजबूत है। उसे छोड़ने की जरूरत ही नहीं है। स्थितप्रज्ञ के श्लोक में तो आदर्श उपस्थित हैं। ईशावास्य में परमात्मा की उपासना का विचार रखा गया है। उसमें किसी प्रकार की संकुचितता नहीं है। लेकिन मान लीजिये कि कल हम पैलेस्टाइन में जाते हैं, तो कोई जरूरी नहीं है कि यही प्रार्थना चले।

संपूर्ण अनाग्रह

आज हिन्दुस्तान में यह प्रार्थना चलती है, तो मात्र इसके कारण किसी पंथ को अनाग्रह नहीं होना चाहिए। इसमें दोष क्या है सिवा इसके कि यह संस्कृत में है। संस्कृत अनुसरी लोगों की भाषा है। भावात्मक एकता स्थापित करने की संस्कृत में बड़ी भारी शक्ति है। इसका अर्थ यह नहीं है कि यही प्रार्थना चले और संस्कृत में ही चले। मौन प्रार्थना हो या प्रार्थना ही न हो। इससे ज्यादा अनाग्रह और क्या हो सकता है! मैं यह तीनों चीजें कहता हूँ।

सामूहिक और व्यक्तिगत प्रार्थना

प्रार्थना में कौन आते हैं कौन नहीं यह हम देखते ही नहीं। एक बड़ा जिम्मेदारी किस्सा है। सेवाग्राम की प्रार्थना में हाजिरी हाजी थी।

परन्तु नाम बापू का बोला जाता था। मैं 'ओम्' कहते थे। एक दफा बताया गया कि १५ लोग हाजिर हैं और १४ गैरहाजिर। मैंने कहा: नहीं १५ गैरहाजिर हैं और १४ हाजिर। बापू ने कहा कि यह तो गणित जाननेवाला है, इसलिए फिर से देखो। जिसने हिसाब किया उसने देखा और कहा ठीक ही तो है। मैंने कहा: लेकिन जिसने गिना वह खुद तो गैरहाजिर है। जिसका ध्यान गिनने में रहा उसका प्रार्थना में ध्यान कहाँ ? वह प्रार्थना में है ही नहीं। सार यह है कि मेरे सामने कौन बैठा है, यह मैं नहीं देखता। लेकिन सिफारिश जरूर करूँगा कि प्रार्थना के लिए मैं बैठूँगा आप लोग आयेंगे, तो अच्छा है। लेकिन प्रार्थना रखनी चाहिए और एकांती प्रार्थना चलनी चाहिए या नहीं चलनी चाहिए, ऐसा आग्रह नहीं रखूँगा। उसके बारे में क्या चलता है, यह जरूर पूछूँगा। सामूहिक प्रार्थना और व्यक्तिगत प्रार्थना दोनों होनी चाहिए।

भारत की संस्कृति का आधार भक्ति

भक्ति के बिना प्रार्थना का कोई स्थान ही नहीं है। इसलिए प्रार्थना भक्ति का विषय है। दुनिया की बात मैं अभी छोड़ देता हूँ। भारत की जो चौदह प्रकार भाषाएँ हैं, जिनमें कुछ साहित्य है, उनमें सर्वोत्तम साहित्य आध्यात्मिक है। आप पंजाब जायें तो वहाँ आज भी नानक का राज चलता है। आज वहाँ के जो गवर्नर और मुख्यमन्त्री हैं, उनका राज लोक मानस पर नहीं चलता नानक का ही राज चलता है। नानक न होते, तो धर्मनिष्ठ सेना बनाना असम्भव ही जाता वह सेना, जो हिंसा का कार्य करते हुए भी मर्यादा नहीं छोड़ेगी। वहाँ पर नानक ने लोगों को एक श्रद्धा दी उसीके आधार पर हमारी सेना में मर्यादा हो सकती है। यही बात मैं महाराष्ट्र के लिए कहूँगा। अगर नामदेव तुकाराम न होते तो हम नहीं कह सकते कि महाराष्ट्र में हमारी मानवता किस कोटि की बनती। [illegible] असम में मैं घूम रहा हूँ, तो वहाँ आधार यहाँ के समाज को नाम

पोग्र ने दिया है, उसे छोड़ दिया जाय तो पूरे मध्यम को दूसरा कोई आधार नहीं मिलेगा जिससे यहाँ की संस्कृति पनप सके। आप तमिलनाड में जाइये, तो तिरुकुरल, तिरुवाचकम, तिरुप्पाइ आदि शैव और वैष्णवों के भक्ति-ग्रन्थ छोड़ देने से वहाँ पर गाँव-गाँव में जो असंख्य मंदिर बने हैं, वे टूट जाते हैं और वहाँ के गाँव भी टूट जाते हैं। क्योंकि वे गाँव मन्दिर के इर्दगिर्द खड़े हैं। अभी मैं सब प्रान्तों का नाम नहीं लूँगा लेकिन भारत म ऐसा कोई प्रान्त नहीं है जहाँ संस्कृति का आधार भक्ति का न हो।

तर्क-प्रवाह का डर नहीं

यह बात ठीक है कि इस जमाने में कुछ तर्क-प्रवाह बढ़ा है। उसका मुझे डर नहीं है क्योंकि तर्क कटता है। वह अपने को ही काटता है। उसकी अनेक शाखाएँ होती हैं। वे शाखाएँ एक-दूसरे से लड़कर एक-दूसरे को खत्म करती हैं। जब तक नहीं लड़तीं और एक-दूसरे की पुष्टि करती हैं, यानी उस दिशा में जाती हैं, तब तक चलती हैं। लेकिन व एक-दूसरे को काटने लगती हैं, तब शान्ति होती ह, इसलिए उसका डर न नहीं है।

आध्यात्मिक साहित्य मूलाधार

मैं देखता हूँ कि हिन्दुस्तान का आधार ही टूट जायगा, अगर यहाँ आध्यात्मिक साहित्य न रह। एक बार मैंने कहा था कि हिन्दुस्तान से रामायण को हटा दो, वह टिक नहीं सकेगा। तुलसीदास न उत्तर भारत में कितना बड़ा काम किया! एक नास्तिकता (यहाँ पर मैं 'नास्तिकता' शब्द बुरे अर्थ में इस्तेमाल कर रहा हूँ, उसके ऊँचे तत्त्वज्ञानात्मक अर्थ में नहीं) का प्रचार था रहा था और उससे यहाँ की संपूर्ण संस्कृति पर हमला हो रहा था। उस कोई राजा-महाराजा या लश्कर नहीं रोक सका, लेकिन

तुलसी-रामायण ने उस हमले को रोक लिया। उस ग्रन्थ में ऐसे अंश भी हैं जो उस जमाने की स्थिति के द्योतक हैं। ग्रन्थ-लेखक जो महान् थे और समाधि अवस्था में लिखते थे, वे जब नीचे उतरते थे तब उस सामाजिक अवस्था का असर कुछ अंशों पर पड़ता था, इसलिए हम उसे परिशुद्ध करके ले सकते हैं। आज की हालत में भी गौण और मुख्य भेद रहता है। मीमांसाशास्त्र के अनुसार जिसे गौण और मुख्य भेद कहते हैं, उसकी मीमांसा करके हम उस ग्रन्थ को ले सकते हैं। लेकिन उसमें जो आधार है, जो हमारी पृष्ठ-भूमि है, उसे नहीं छोड़ना चाहिए। ऐसे ग्रन्थ आ सकते हैं, पर उन ग्रन्थों में भक्ति-मार्ग का जो आधार है, वह टूटेगा तो मैं नहीं समझता कि भारत टिक सकेगा। वही भारत को जोड़नेवाली कड़ी है और भारत को विश्व के साथ जोड़नेवाली कड़ी भी। जिस जमाने में आवागमन के साधन नहीं थे, तब भी प्राचीनों ने हमें व्यापक शब्द दिये, इसलिए कि उन्हें मूल का साक्षात्कार हुआ था। वह नहीं हुआ होता और उनका मन भिन्न-भिन्न परिस्थितिजन्य उपाधियों में पड़ा होता तो उनमें व्यापकता न आती।

तारक आधार : भावना

जिन महात्माओं को लेकर हम प्रार्थना करते हैं, वे जीवन को व्यापक बनाते हैं। एक डूबता प्राणी जो भी चीज हाथ लगे, उसे पकड़ लेता है। वह सोचता ही नहीं कि वह चीज कितनी मजबूत है। मैं जब साबरमती में तैर रहा था तो किनारे पर जो लड़का खड़ा था उससे मैंने कहा कि "बापू को खबर दे दो कि विनोबा मर रहा है और आत्मा अमर है।" फिर तैरते-बहते मैं दूसरे किनारे पर जा पहुँचा जहाँ पर घास थी। मैंने हाथ से घास को पकड़ा और उसके सहारे से पाँव टिक गया। सार यह कि डूबता व्यक्ति जानता नहीं है कि उसे जो आधार मिल रहा है, वह कितना मजबूत है। वह बिल्कुल श्रद्धा से उसे पकड़ लेता है। अगर वह श्रद्धा

गलत साबित हुए तो वह डूबता है। जैसे वह डूबनेवाला हो या और श्रद्धा सही साबित हुए, तो बच जाता है। इस तरह डूबते हुए आदमी का तैरने का जो प्रयत्न है उसमें प्रार्थना आती है। किसीको इस आधार की जरूरत मालूम नहीं होती। लेकिन गांधीजी ने प्रार्थना को अपना मुख्य आधार माना।

गांधीजी की नम्रता

गांधीजी ने मरते समय 'राम' नाम लिया जो करोड़ों के कंठ से निकलता है। भारत में एक सामान्य जड़-बुद्धि अपढ़-पतित जीव जिस नाम का आश्रय लेता है उसी नाम पर उन्होंने श्रद्धा रखी। उन्होंने अपने लिए कोई ऊँचा नाम नहीं लिया। यह नाम हलका पड़ता है, ऐसा कहकर निर्गुण निराकार का नाम या और कोई आदर्श नाम नहीं पकड़ा। जब उनसे कोई पूछते थे कि 'राम' कौन है, तो वे कह देते थे 'अन्तर्यामी'।

अपनी प्रार्थना में हम पहले 'रघुपति राघव राजा राम' बोला करते थे। तो मुझसे भी लोगों ने पूछा कि राम कौन है? अक्सर आयसमाजी ऐसा सवाल किया करते हैं। मैंने जवाब दिया कि दशरथ नामक पिता ने अपने पुत्र को जिसका नाम दिया वह राम है। मतलब यह कि दशरथ के पुत्र के पहले भी यह था और उसका नाम दशरथ ने अपने घर को दिया। इस तरह मैं राम-नाम का मंडन करता था।

जिसका मंडन और समर्थन करना पड़ता है उसके बजाय दूसरा कोई ऊँचा नाम लिया जा सकता था लेकिन गांधीजी ने सोचा कि जो नाम करोड़ों लोग लेते हैं उसीको हम लेंगे। उस नाम में उत्तम अर्थ भरें, तो वह शब्द इनकार नहीं करेगा। जितना उत्तम अर्थ आप उसमें भरना चाहें उससे अधिक अर्थ डाला जा सकता है। रामानुज का एक मन्त्र प्रतिमा-संबंध वचन है कि शब्दकोश में जितने शब्द हैं उन सबका

एक अर्थ तो सामान्य है, लेकिन दूसरा अर्थ परमेश्वर है। अपने देश में राम शब्द पकड़ा और वही गांधीजी ने लिया। अर्थात् हम कोई ऊँचे होना चाहते हैं ऐसी बात नहीं है।

भगवान् कृष्ण ने तो यहाँ तक किया कि जब यादववंशी एक दूसरे से लड़ने लगे और एक-दूसरे का संहार करने लगे, मारने-पीटने लगे, तो भगवान् खिन्न हुए और उन्होंने कहा कि फिर मैं भी क्यों न पीटूँ? यों कहकर उन्होंने पास का एक तिनका लिया और एक पर प्रहार करके वे चले गये। फिर एक पेड़ के नीचे जाकर ध्यानस्थ हुए। उन्होंने ऐसा इसलिए किया कि वे कहना चाहते थे कि मैं भी उन्हींमें से एक हूँ जिस श्रेणी में सारे यादव थे। उनके स्थूल कार्य का मंडन मैं नहीं कर रहा हूँ। उसका भावार्थ लेना चाहिए। जिस कोटि के तुम लोग हो उसी कोटि का मैं हूँ यह वे कहना चाहते थे। यद्यपि वे बहुत ही ऊँची कोटि के थे यह तो सारा भारत जानता है। 'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन' इतना होने पर भी वे कितना काम करते थे। ऐसा कहनेवाले यानी यह समझनेवाले कितने होंगे जिन्होंने यह कहा होगा कि जीवन में मुझे कोई कर्तव्य नहीं है। तो इतनी ऊँची कोटि के होते हुए भी वे अपने को बिलकुल सामान्य समझते थे। गांधीजी ने भी बिलकुल नम्र होकर अन्त में राम-नाम लिया। उन्होंने एक प्रार्थना लिखी है, जिसका आरम्भ है, हे नम्रता के सम्राट्*! वे परम नम्र थे।

संतों के अनुभव अनुपेक्षणीय

भगवत् प्रार्थना के सम्बन्ध में अनेक सत्पुरुषों के जो अनुभव हैं, उनकी उपेक्षा करके या उन पर अविश्वास रखकर हम चलें यह मेरे लिए उद्धत विचार होगा। मैं तो पड़ा हूँ उन सब संतों की गोद में, जिन्होंने हमें

---

* प्रार्थना।

सिखाया है कि हमारा बोझ मत उठाओ। यह बात उन्हीं ग्रंथों ने हमें सिखायी है। इसलिए मेरी अनुभूति हो या न हो उनकी अनुभूति को है, उसकी मैं उपेक्षा नहीं कर सकता। यहाँ मेरी बुद्धि कच्ची है। जिसके आधार पर भारत का सर्वोत्तम साहित्य बना, उसमें तथ्य नहीं था या उसकी उपेक्षा करनी चाहिए, ऐसा कहनेवाला अनुभव-ग्रस्त मनुष्य होकर मैं बनूँ तो यह उद्दंडता होगी।

माँ का संस्कार

अनुभव की बात कहूँ। मैंने अपनी माँ को देखा है कि वह दिनभर काम करती थी और दिन में १२ बजे सबको खिलाकर खाती थी। खाने से पहले एक छोटे-से स्थान पर, जिसे देवघर कहते हैं, बैठती थी और मराठी में एक छोटी सी प्रार्थना बोलती थी। नामदेव ने कहा है : 'गाऊ नेणे कळाकुसरी'–मैं कुछ कलाकुसरी नहीं गाता हूँ बल्कि नाम एकड़कर कहता हूँ, उसी तरह मेरी माँ कहती थी : 'अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक अपराध क्षमा कर, यह बोलते हुए मैंने कई दफा देखा है कि उसकी आँखों में आँसू आ जाते थे। मुझे बहुत ग्रंथ पढ़ने को मिले हैं जो अनुभव से भरे हैं और सत्संगति भी मिली है। इन सबको मैं एक ओर रखकर यह जो मुझे साक्षात् भक्ति का दिग्दर्शन मिला उसके दर्शन को दूसरी ओर रखकर तौलता हूँ, तो यह दर्शन का पलड़ा भारी उससे ज्यादा होता है।

इस आंदोलन में जिस श्रद्धा के साथ मैं लगा हूँ उसमें कोई शक्ति नहीं होती अगर यह श्रद्धा मुझमें न होती। अपने अनुभवों का अंश बिलकुल थोड़ा होता है। मानव-समाज का कुल पृथ्वी का जो व्यापक अनुभव है हम तो भारत का अनुभव जानते हैं, लेकिन कुल पृथ्वी का भी अनुभव है। वह-कुल का कुल अनुभव अंध है ऐसा बुद्धिमत्ता की ऐंठ में हम कहेंगे, तो बहुत बड़ी ताकत खोयेंगे।

शक्ति का स्रोत

हम सब लोगों को समझना चाहिए कि शक्ति का स्रोत कहाँ है। लोग शक्ति चाहते हैं—भक्ति नहीं; पुण्य फल चाहते हैं—पुण्य नहीं; मुक्ति चाहते हैं—शुद्धि नहीं; तो यह एक मानसिक आलस्य का लक्षण है। इसलिए हमें तो तत्त्व ही सोचना चाहिए। हमें शक्ति की जरूरत नहीं है। शक्ति तो भगवान् में भरी हुई है। हमें अपनी शक्ति से काम करते रहना है और सिर्फ भक्ति करनी है। शक्ति की आकांक्षा रखे बिना भक्ति करनी चाहिए। मुक्ति की आकांक्षा रखे बिना शुद्धि करनी चाहिए।

मुक्ति की निस्पृहता

नामघोषा के आरम्भ में भगवान् का नाम-स्मरण करने से पहले भक्तों का स्मरण किया है और कहा है कि हम उन्हीं भक्तों को नमस्कार करते हैं, जो मुक्ति में निस्पृह हैं और रसमयी भक्ति की याचना करते हैं। 'मुकुतित निस्पृह जिटो सेहि भकतक नमो। रसमय मागोहो भकति।' "मुक्ति में निस्पृहता मुक्ति का तिरस्कार नहीं है। मुक्ति का स्वरूप ही ऐसा है कि वह स्पृहता से दूर जाती है।" जहाँ मुक्ति की निस्पृहता है, वहाँ और किसी प्रकार की स्पृहा नहीं हो सकती। यह वैराग्य की पराकाष्ठा है। देह से वैराग्य, विषयों से वैराग्य, सामाजिक प्रसिद्धि, संपत्ति की वासना, लोकसंग्रह की वासना आदि सबसे वैराग्य हो ही जाता है और सब वासनाएँ दूर हो जाती हैं। अतः मुक्ति, जो कि अंतिम तत्त्व है, उसके लिए निस्पृहता बतायी जाती है। फिर और कोई स्पृहा नहीं रह सकती। इसमें वैराग्य की पराकाष्ठा आ गयी। भक्ति के रास्ते से जाने से मुक्ति आती ही है। मुक्ति-मुक्ति करने से वह पीछे जाती है। भक्ति का रास्ता सीधा है। उस पर चलने से मुक्ति आ जाती है।

प्रश्नोत्तर

आनन्द का कार्यक्रम

प्रश्न : सब आश्रमों में प्रार्थना एक ही हो अथवा जैसी इस समय अलग अलग चल रही है, वैसी हो ?

उत्तर : मनुष्य को अपने जीवन में आनंद की आवश्यकता होती है। उसका बहुत अच्छा प्रकार गायन माना जाता है। जो गा सकते हैं, उन्हें गान में आनंद आता है जो नहीं गा सकते, उनको सुनने में आनंद आता है। गायन में भी जब अनेक व्यक्ति इकट्ठा होकर गाते हैं, तो विशेष आनंद आता है। जीवन में हम एक आनंद का प्रोग्राम, सांस्कृतिक कार्यक्रम रखते हैं, तो वह गलत नहीं माना जाता, अपमदायी माना जाता है। सुंदर संगीत का कुछ अर्थ होता है उससे चित्त को शांति प्राप्त होती है। जिसमें कुछ गुण बढ़ते हैं, जिसमें कुछ उपदेश हैं वैसे ही गाने आप गाते हैं न तो ध्यान दीजिये, यही प्रार्थना है।

गायन सीखिये

प्रश्न : क्या प्रार्थना से चित्त को शांति मिलती है ?

उत्तर : मन शांत तब उठता है, जब कोई कहे कि प्रार्थना से कुछ मिलता है। हम तो कहते हैं कि उससे निर्दोष आनंद मिलता है। यह कहकर हमने एक पत्थर टोक दी है। अब आनंद के साथ आप और लाभ चाहते हैं तो उसके साथ और जोड़ दीजिये।

एक गाने के बाद तुरत दूसरा गाना शुरू करना हो, तो पहले गान को अन्तर में लीन होने दिया जाए और फिर दूसरा गाना शुरू किया जाय, तो अच्छा होगा। ये सब अनुभव की बातें हैं। दो गानों के बीच थोड़ा मौन रह सकता है। हम चाहेंगे कि प्रार्थना के लिए आप गायन की तैयारी करें और सबको गायन सिखायें। भोजन के लिए आप इतनी तैयारी करते हैं तो प्रार्थना के लिए क्यों नहीं करेंगे ?

स्थितप्रज्ञ सर्वमान्य है

जब गाँववाले रात में इकट्ठा होकर तन्मयता से गाते हैं और फिर सो जाते हैं, तो वह बड़ी अच्छी क्रिया है। हम 'स्थितप्रज्ञ' के श्लोक बोलते हैं। 'स्थितप्रज्ञ' आदर्श माना गया है। उस आदर्श पर किसीका भी तक आक्षेप नहीं आया। इस पर एक आक्षेप यह उठाया जा सकता है कि जो रोज पाठ किया जाता है, वह यांत्रिक हो जाता है उसमें चिन्तन कुछ नहीं होता।

सत्संग

यह एक अनुभव का विषय है कि एकांत प्रार्थना में हम भगवान् का नाम उठाते हैं और सामूहिक प्रार्थना में सज्जनों के साथ बैठकर भजन करते हैं, तो सत्संगति का लाभ मिलता है। इसीलिए सब मिलकर जो गाया जाता है, उसे सत्संग कहते हैं।

मौन-प्रार्थना

प्रश्न : जहाँ भिन्न भिन्न धर्मवाले इकट्ठा होते हैं, वहाँ एक प्रार्थना कैसे बन सकती है? ऐसे स्थान पर किस प्रकार की प्रार्थना करें?

उत्तर : हमने कश्मीर की यात्रा में देखा था कि मेला में खाना-पीना सब साथ चलता है। लेकिन ईश्वर का नाम लेने का मौका आया, तो सब अलग हो जाते हैं। अपनी-अपनी अलग प्रार्थना करते हैं। यानी ईश्वर 'डिवाइडिंग' एक अलग करनेवाला तत्त्व हो गया। इसमें ईश्वर की बड़ी निन्दा है। हम यह समझ सकते हैं कि और कामों में हम अलग हों, लेकिन ईश्वर-स्मरण के समय अलग होना बड़ा विचित्र है। सभी धर्म-वालों को इकट्ठा करने की दृष्टि से हमने मौन प्रार्थना चलायी। यह एक ऐसी असरदार चीज है कि वह चलेगी। मौन में पहले हम करते हैं कि हम अपनी आत्मा में सत्य प्रेम करुणा की खोज करें। यह प्रार्थना का सार

है। और बाद में कहते हैं कि अगर नाम लेना है तो जिस नाम की जिसे आदत है वह उस नाम का चिन्तन करे।

आप एक भोजन करते हैं लेकिन हरएक के पेट में अलग-अलग ही पचता है। इसलिए वह अलग भोजन है, एक-भोजन नहीं है, ऐसा कहोगे। प्रार्थना का मुख्य भाव सत्य प्रेम, करुणा यह रहा तो आपकी प्रार्थना का आधार एक ही हुआ। फिर आप कितनी गहराई में जाते हैं, यह देख लीजिये। नदी में हम मिलकर तैरने जाते हैं तो हर कोई अपनी अपनी शक्ति के मुताबिक गहरे पानी में उतरता है। मौन-प्रार्थना म नाम लेना प्रधान अंश नहीं है। सत्य प्रेम करुणा समान अंश है। मान लीजिये कि आप दस भाषा के लोग इकट्ठा होकर प्रार्थना कर रहे हैं। प्रभु हमें सत्य दे, यह बोलने की क्रिया अन्दर चल रही है लेकिन वह अलग अलग भाषा में चल रही है, तब भी अर्थ एक ही है। जैसे कोई 'ईश्वर' कहे 'अल्लाह' कहे, 'गॉड' कहे, लेकिन उसका अर्थ एक ही है कि सत्य प्रेम, करुणा देनेवाले से हम यह माँग रहे हैं। एक ही चीज माँग रहे हैं। एक ही पदार्थ के विभिन्न भाषाओं में अनेक नाम होते हैं। वैसे ही ईश्वर के भी अनेक नाम होते हैं।

प्रार्थना सहज हो

सब लोग एक ही प्रार्थना एक ही भाषा में करें, ऐसे कुछ प्रयोग हुए हैं। उनका कुछ तो लाभ हुआ है, लेकिन वह व्यापी नहीं बना। एक प्रार्थना करनेवाले धीरे धीरे ऐसी स्थिति में पहुँच जाते हैं कि फिर वे अपने से भिन्न स्थिति सहन ही नहीं कर सकते। इसलिए मैं इस बात के लिए अनुकूल हूँ कि जिसे सहज भाव से जो सूझता है, उसके अनुसार वह प्रार्थना करे। वास्तव में प्रार्थना अपने हृदय की ही होती है। लेकिन हमें संतों की वाणी सूझती है, क्योंकि वे आध्यात्मिक भाषा ज्यादा जानते हैं। इसलिए हम उनका आधार लेते हैं। वास्तव में तो हमें निज की प्रार्थना करनी

चाहिए, मातृभाषा भी नहीं। यह सब एक प्रयत्नमात्र है। परमेश्वर अनिर्वचनीय अनंत है। मेरा ख्याल है कि पक्षी सवेरे उठकर बोलते हैं। यह ईश्वर-स्मरण है। शब्द तो वे ही होते हैं, जो वे पीछे भी बोलते हैं, लेकिन प्रभात के समय ज्यादा गंभीर होते हैं। प्रार्थना यानी जीव का ईश्वर को हृदयपूर्वक याद करने का एक प्रयत्न। उस प्रयत्न में जिसे जो सूझता है, वह करता है। बच्चा मरने पर किस तरह रोना चाहिए, उसका राग, लय, ताल, तय करके सब माताओं को सिखाया जाय तो कैसे होगा? उस वक्त तो माता का रोना सहज ही फूट पड़ता है। वैसे ही प्रार्थना भी हृदय से सहज भाव से निकलती है।

राम-नाम की महिमा

प्रश्न : एक आदमी खेती करता है और एक राम-नाम लेता है। इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है?

उत्तर : अगर खेती करनेवाला ईश्वर भक्ति-भावना से खेती करता हो तो तुलना हो सकती है। अगर नाम-स्मरण करनेवाला ईश्वर से कुछ नौकरी वगैरह माँग रहा हो, तो उसके नाम-स्मरण में कोई सार नहीं है। खेती और नाम-स्मरण दोनों आध्यात्मिक कार्य हों तो उनकी तुलना होगी और फिर यह उत्तर दिया जायगा कि जिसमें कुदाल चलाने की शक्ति है वह कुदाल चलायेगा; लेकिन जिसमें वह शक्ति नहीं है, वह भी 'राम-नाम' ले सकता है। 'राम नाम' मनुष्य का आखिरी आश्रय है।

शंका : क्या कुदाल चलाने की शक्तिवाले मनुष्य का 'राम नाम' लेना अच्छा है?

उत्तर : यह प्रश्न मुझसे पूछने में सार नहीं है, क्योंकि इसका उत्तर मेरे जीवन से मिलता है। अगर मुझे यह अच्छा लगता तो मैं जरूर राम नाम लेता हुआ बैठा मिलता। लेकिन आप देख रहे हैं कि मैं दूसरा कुछ कर रहा हूँ।

हिन्दू-धर्म में ग्रन्थ-प्रामाण्य नहीं

जगत् में बड़े व्यापक लोक-समूह का जो धर्म बनाते हैं और सिद्धांत मान्य होते हैं, उनके साथ साथ कुछ विशेष ग्रन्थ भी मान्य होते हैं। इसाई धर्म में बाइबिल और न्यू टेस्टामेंट, यहूदियों में बाइबिल और ओल्ड टेस्टामेंट मान्य हैं। इस्लाम में कुरान सिक्खों में ग्रन्थसाहब ऐसे ही ग्रन्थ हैं। वैदिक या हिन्दू धर्म में किसी विशिष्ट ग्रन्थ को ही प्रमाण मानने का आग्रह नहीं है। अनेक ग्रन्थ हैं। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार लोग पढ़ते हैं। वेद उपनिषद् गीता रामायण और भागवत; ज्यादातर ये पाँच संस्कृत ग्रन्थ हैं और अलग-अलग प्रदेशों में प्राकृत में अपने खास ग्रन्थ हैं। वे चलते हैं। एक-एक प्रदेश में ऐसा बहुत बड़ा लोक-समूह दीखेगा जिसने रामायण पढ़ी है तो भागवत नहीं पढ़ी गीता को देखा ही नहीं और उपनिषद् के बारे में कुछ भी नहीं जाना। लोग समझते हैं कि रामायण पढ़ते हैं तो उसमें सब सार आ जाता है। इधर भागवत की पूजा असम में चलती है। मूर्ति की जगह भागवत होता है। इस तरह अपने-अपने ग्रन्थ हैं। मैंने ऐसे वारकरी देखे हैं, जो नित्य नियम से 'हरि'-पाठ करते हैं और कुछ तुकाराम के अभंग गाते हैं। इससे अधिक और कुछ नहीं पढ़ते। ऐसे लोग हर प्रदेश में हैं। इसके कारण निरामय वृत्ति और व्यापकता का लाभ मिला है।

गीता के भाष्यकार

जो अलग-अलग आदरणीय ग्रन्थ हैं उन सबमें शायद अधिक-से अधिक आदरणीय ग्रंथ गीता है। इस जमाने में गांधीजी ने उसे बहुत

चालना दी। गीता के और भी अनेक टीकाकार हुए हैं। श्री अरविन्द, लोकमान्य तिलक, डा॰ राधाकृष्णन्, मिसेस एनी बेसेंट, श्री भगवानदास, स्वामी स्वरूपानन्द आदि। इधर गीता पर काका कालेलकर, किशोरलाल मशरूवाला ने और मैंने भी लिखा। दूसरे भी अनेक लोगों ने लिखा है। इस जमाने में उसने बहुत प्रेरणा दी। पुराने जमाने में भी गीता पर जितने भाष्य हुए, उतने और किसी ग्रन्थ पर नहीं हुए। हर जमाने में उस-उस जमाने के लोक नेता और विचार नेता जो श्रेष्ठ थे, उन्होंने लिखा। शंकर के जमाने में शंकर से बढ़कर विचार-नेता भारत में कोई नहीं था। रामानुज के जमाने में रामानुज से बढ़कर श्रेष्ठ नेता नहीं थे। हर जमाने के श्रेष्ठ नेताओं ने गीता पर लिखा है। कुछ तो लोक-नेता भी थे, जिन्होंने गीता पर भाष्य लिखा।

गीता भाष्य में शंकराचार्य की विनम्रता

शंकराचार्य का भाष्य बहुत ही ध्यान खींचता है। उन्होंने लिखा है कि गीता ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसके पद, पदार्थ, वाक्यार्थ और न्याय का वर्णन करने का अनेकों ने प्रयत्न किया है। फिर भी उसका अर्थ ठीक स्पष्ट नहीं हुआ। इसलिए उसके विवरण का मुझसे यत्न किया जा रहा है। 'यत्नः क्रियते मया।'

यही भाष्यकार शंकर 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य करते हैं तब वेदान्त-केसरी बोलते हैं। वहाँ कोई एकवचन में प्रयोग है ही नहीं, बहुवचन में है—'वयं वदामः'। मानो कुछ दुनिया अपनी जेब में है, ऐसी सिंह समान वे गर्जना करते हैं। वे ही गीता के पास पहुँच गये, तो इतने नम्र हो गये कि कहते हैं, उसके विवरण का मुझसे यत्न किया जा रहा है। इसमें 'यत्न' शब्द है और 'मया' यह उसमें 'मुझ' है। कर्तरि के बजाय कर्मणि प्रयोग आया। (मैं यत्न करता हूँ नहीं, बल्कि मुझसे प्रयत्न किया जा रहा है।) अब शंकराचार्य लिख रहे हैं कि गीता पर अनेक लोगों ने विवरण किया है। गीता पर

शंकराचार्य के भाष्य के पूर्व का कोई भाष्य उपलब्ध नहीं है। जितने भाष्य उपलब्ध हैं, वे सब शंकराचार्य के बाद के हैं। लेकिन शंकराचार्य के ग्रन्थ में उन्होंने पुराने भाष्यकारों के उद्धरण, अवतरण देकर खंडन किया है। इसका अर्थ यह है कि गीता पर बहुत ही भाष्य हो गये। लेकिन शंकर भाष्य ने लोगों का ध्यान खींचा। उसका आकर्षण हुआ। उसके पहले के भाष्य छिन्न-भिन्न थे, वे काल-प्रवाह में खो गये।

गीता का आशय अप्रकट

हमारे इस देश में अमुक ग्रन्थ प्रमाण मानना चाहिए, ऐसा आग्रह नहीं रहा तो भी गीता सर्वमान्य और प्रिय है और हर जमाने में समाज के उत्थान के लिए, समाज को सम्यक् मार्ग में रखने के लिए उसका उपयोग किया गया और आज तक किया जा रहा है। हमने भी इन दस ग्यारह वर्षों में गीता को भूदान के साथ जोड़कर घर-घर पहुँचाने का प्रयत्न किया है। यह आखिरी प्रयोग नहीं है, आरम्भ है। आगे तो ऐसे असंख्य प्रयोग होनेवाले हैं। इस ग्रन्थ के लिए इतना आदर है और इतना प्रयत्न हुआ है फिर भी उसका जो मुख्य विचार है वह समझने में अभी तक पूरी सफलता नहीं मिली।

गीता की निवृत्ति की व्याख्या

इसका अर्थ यह नहीं है कि गीता बहुत कठिन ग्रन्थ है और भाष्यकारों ने ध्यान नहीं दिया और लोगों को ज्यादा नहीं मिला। लेकिन जिस मुख्य विचार को पकड़ने में और समझने में सफलता नहीं मिली वह यह है कि गीता प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति दोनों से निवृत्ति को भिन्न मानती है। प्रवृत्ति को रजोगुण मानती है अप्रवृत्ति को तमोगुण समझती है और धर्म को सत्प्रवृत्ति समझती है। इन तीनों से निवृत्ति भिन्न है। यह ध्यान में न आने के कारण ज्यादातर निवृत्ति का अर्थ भारत में अप्रवृत्ति हो गया। परिणाम यह हुआ कि हिन्दुस्तान में जो भी आत्म-चिंतन की दिशा में

जाता है वह फौरन काम छोड़ने की तरफ जाता है। कर्म छोड़ता है, लोक-संपर्क छोड़ता है, मौन रखता है, एकांत में जाता है या कुछ मानसिक क्रिया करता है, भोजन को अपकारी समझकर, भिक्षा माँगकर जो भिक्षा मिले सो खा लेता है। उसे ही निवृत्ति कहा जाता है। जो भिक्षा ला किया यथावत् रखने कि गीता में क्या खाना और क्या नहीं खाना इसकी भी चर्चा है। कर्म कौन-सा करना चाहिए, कौन-सा नहीं करना चाहिए, यह सब स्पष्ट होते हुए भी अर्जुन को लड़ाई में प्रवृत्त किया जा रहा है, प्रोत्साहन दिया जा रहा है। इतना सब होते हुए भी जो लोग आत्म चिंतन की तरफ ध्यान देते हैं वे किसी न किसी प्रकार अप्रवृत्ति की तरफ जाते हैं और समझते हैं कि हम निवृत्ति की तरफ जा रहे हैं। समझना चाहिए कि प्रवृत्ति जितनी जोरदार क्रिया है, उतनी ही जोरदार क्रिया अप्रवृत्ति है। प्रवृत्ति जितनी तीव्र क्रिया है, अप्रवृत्ति भी उतनी ही तीव्र क्रिया है। यह प्रति क्रिया है, स्थिति नहीं है। ज्ञानदेव ने लिखा है: 'माझिये सहज स्थिति भक्तियाम'—मेरी सहज स्थिति ही भक्ति है।

निवृत्तिविषयक भ्रान्ति

एक तीव्र क्रिया को निवृत्ति मानना, एक तीव्र वृत्ति को निवृत्ति मानना, एकांगी जीवन को निवृत्ति मानना—यह विचार ही भ्रमपूर्ण है। निवृत्ति एकांगी नहीं हो सकती। यह सब अंगों को घेर में समा लेती है। उत्तम कर्म का निषेध हो ही नहीं सकता। जैन-मुनि खाने में हिंसा है, पर अनशन उपवास करते हैं। मैं स्वीकार करता हूँ कि उपवास में शक्ति है लेकिन उस पर जो अतिरिक्त जोर दिया गया वह हित समझकर दिया गया। फिर जैसे खाने को पाप समझा गया, वैसे ही श्रम को भी पाप समझा गया क्योंकि उसमें हिंसा होती है। इसमें कोई शक नहीं कि जीने में हिंसा होती है। यह सब होते हुए भी जीवन चल रहा है। अगर हम आत्महत्या करेंगे तो बहुत ही तीव्र क्रिया होगी। बहुत बड़ी प्रवृत्ति

होगी। इस तरह से जैनों ने उसे जोरदार निवृत्ति का रूप दिया। ऐसा ही बौद्धों ने किया है। बुद्ध के अनुयायी और बुद्ध में मैं फर्क करता हूँ। गौतम बुद्ध सतत घूमते रहे। 'चरथ भिक्खवे मेत्ता विहाय' विहार को मेत्ता विहार याने मैत्री विहार नाम दिया और भिक्षुओं से कहा कि करुणामूलक और मैत्रीमूलक विहार करो। आज उन्हींके अनुयायी क्या कहते हैं? वे कहते हैं कि 'वासना-क्षय के लिए कुछ करना चाहिए, इसलिए लोगों से अलग हो जायें, गुफा में जाकर पत्थर और-खोदकर जैसे जंगली प्राणी रहते हैं, वैसे रहें और ध्यान करें।' हिन्दुस्तान के बाहर के लोगों ने तो यह नहीं किया। लेकिन केरल में संन्यासी भक्ति-मार्ग में भक्त, बुद्ध विचार में बौद्ध, जैनियों में जैन, शैव वैष्णवों में भक्त वे सबके सब ज्यादातर अप्रवृत्ति की तरफ झुके हैं, उसे निवृत्ति समझकर अप्रवृत्ति मानकर (समझकर) नहीं।

देह-धारणा के लिए प्रवृत्ति, अप्रवृत्ति दोनों जरूरी

मैं समझता हूँ कि अप्रवृत्ति भी जरूरी है। रात में निद्रा लेते हैं, तमोगुण के कारण उसका परिवर्तन अगर समाधि में कर सकते हैं, तो वह समाधि हो जाती है। ऐसी निद्रा से काम होता है। उस निद्रा से प्रेरित या जीवन जीते हैं उनकी निद्रा समाधि है और जागृति पूजा। यह छिप नहीं सकता है, वह दिन में प्रवृत्ति में और रात में सीधा अप्रवृत्ति में जाता है। यह ठीक है कि देहधारण के लिए जैसे प्रवृत्ति की जरूरत है वैसे ही अप्रवृत्ति की भी जरूरत है। दोनों अपनी अपनी मात्रा में होनी चाहिए। ज्यादा बढ़नी नहीं चाहिए। मात्रा में रह तो देह जीवन के लिए दोनों का उपयोग होता है। यह अच्छा पक्ष है लेकिन उसे अप्रवृत्ति समझकर ही मान्य किया जाय। जहाँ अप्रवृत्ति को निवृत्ति समझकर स्वीकार किया जाता है वहाँ मूल पर प्रहार होता है, विचार गलत दिशा में जाता है।

ध्यानादि भी कर्मसदृश उभयविध

जैसे कर्म एक शक्ति है, वैसे ही ध्यान भी एक शक्ति है। कोई कर्म कर रहा है, तो वह आध्यात्मिक कार्य कर रहा है, यह मानने का कोई कारण नहीं है। वैज्ञानिक ध्यान करता है, बक भी ध्यान करता है। बक-मूर्ति ध्यान के लिए शास्त्र में आदर्श मानी जाती है। वह मछलियों के लिए कितना एकाग्र हो जाता है! एक बच्चा भी लड्डू खाने में इतना ही एकाग्र होता है। उसे कुछ नहीं सूझता। कठिन ऑपरेशन के समय डॉक्टर भी एकाग्र हो जाता है। ऑपरेशन मामूली होता है तो डॉक्टर हँसता है, बोलता है, इधर-उधर चर्चा करता है, कभी चिढ़ता भी है; लेकिन जहाँ गंभीर ऑपरेशन होता है, वहाँ दो-तीन घंटा एकाग्र होता है। जब कठिन ऑपरेशन के लिए जाता है, तो उसके पहले अधिक नहीं खाता, बिलकुल कम भी नहीं खाता। नहीं तो ऑपरेशन नहीं हो सकेगा। इसलिए थोड़ा व्यवस्थित नाश्ता करके जाता है और केवल तन्मय होकर ऑपरेशन करता है, तो वह ध्यान ही है। वह डाक्टर निष्काम भावना से करुणा से प्रेरित होकर काम करता है, तो उसका वह ध्यान आध्यात्मिक होगा। वैसे ही कोई किसान लोक-सेवा में समाज को अर्पण करने के ख्याल से कृषि-कार्य करता है, तो वह भी आध्यात्मिक कार्य है। बक-ध्यान आध्यात्मिक नहीं है। बी० ए० की परीक्षा पास करने के लिए कई विद्यार्थी शंकराचार्य का ब्रह्मसूत्र भाष्य बहुत एकाग्रतापूर्वक पढ़ते हैं और फिर पास होकर नौकरी के लिए प्रार्थना पत्र देते हैं। नौकरी करने के लिए वे तीव्र अध्ययन करते हैं। यह हीन प्रवृत्ति है। इसलिए ध्यान करना आध्यात्मिक साधन हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। वैसे ही कर्म करना होता है। भोजन करना स्थूल भोग-कार्य भी हो सकता है और मुक्ति-कार्य भी हो सकता है। भोग त्याग ध्यान कर्म-व्यवहार, भक्ति यह सब प्रवृत्ति भी हो सकती

है और निवृत्ति भी हो सकती है। वह आध्यात्मिक भी हो सकता है, व्यावहारिक भी हो सकता है और आसुरी भी हो सकता है।

भ्रान्त प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति

इस सूक्ष्म वस्तु की पकड़ न आने के कारण हिन्दुस्तान में जहाँ आत्म-चिन्तन की प्रेरणा मिलती है, वहाँ लोग अप्रवृत्ति की तरफ झुकते हैं। यह प्रेरणा नहीं मिलती तो ऐसी प्रवृत्ति में पड़ते हैं। ठगने वाले लोगों को ठगना मेवाक (असली शब्द)—मिलावट करना चलता है। यह सब ब्लैक मार्केट में ही चलता है ऐसा नहीं सट्टे बाजार में भी नित्य-निरंतर ठगने का काम होता है। ठगनेवाले लोग धार्मिक भी होते हैं, दान-धर्म भी करते हैं। यह उनकी बुराई नहीं है, भ्रांति है इसलिए प्रवृत्ति में पड़ते हैं। इस तरह उधर जाते हैं तो बिलकुल ही गिरते हैं। इधर आते हैं, तो गलत पटरी पर पड़ते हैं। ऐसी हिन्दुस्तान की दशा सैकड़ों वर्षों से है, आज भी है।

भ्रान्ति के दो उदाहरण

अभी गांधी-निधि के मार्फत गांधी-शांति-प्रतिष्ठान की तरफ से अणु अस्त्रों के निरोध के सिलसिले में एक सम्मेलन बुलाया गया था। उसमें मुझे बुलाया गया था। मैंने लिख दिया कि मैं बाकी शांति-काम में लगा हूँ इसलिए उसीसे मदद पहुँचा सकता हूँ। आपके उपक्रम के साथ मैं पूर्ण भाव से सहमत हूँ। तरीका में यह भी लिखा कि यह आणविक अस्त्र जाने चाहिए। वे मनुष्य का नाश करनेवाले हैं इसलिए जाने ही चाहिए। लेकिन अणु-अस्त्र जितने भयंकर हैं उतने ही भयंकर मामूली शस्त्र छुरी बन्दूक पिस्तौल लाठी आदि भी हैं। मैं सोचता रहता हूँ तो ये छोटे छोटे शस्त्र अणु-अस्त्र से भी ज्यादा भयानक मालूम होते हैं क्योंकि अणु अस्त्र अहिंसा के नजदीक हैं। वे मनुष्य को विचार करने के लिए मजबूर

करते हैं और वे मामूली स्थूल अहिंसा को दूर रखते हैं। आज छोटे सीखते हैं, लेकिन वे अणु-अस्त्र के बाद हैं। आखिर ये आते कहाँ से हैं? द्वेष, भय, शोषण आदि वृत्ति में से आते हैं। इसलिए जिन भावनाओं में से ये आते हैं उन भावनाओं को हटाना ही हमारा काम है। यह बहुत महत्त्व का काम है। उस दिशा की तरफ पंडितजी ने ध्यान खींचा और कहा कि हिन्दुस्तान में हम बड़े अजीब तरह के लोग हैं। रास्ते में अगर जन्तु या सांप तो कुछ लोग उस पर पाँव नहीं रखते, ताकि उसको तकलीफ न हो। उससे परे हटेंगे, बायें चलेंगे, दायें चलेंगे, किसी भी प्रकार की हिंसा नहीं करेंगे और दूसरी ओर ऐसे पागल बन जाते हैं कि इस प्रकार की हिंसा करते हैं। इसलिए अणु-अस्त्र हटानेवाली समस्या तब तक हल नहीं होगी जब तक मानव चित्त ऊपर नहीं उठेगा। हमारी प्रवृत्ति एक ओर कीड़े को बचाने की है और दूसरी ओर मनुष्य को खत्म करने की है। एक तरफ गलत दुष्प्रवृत्ति—हिंसा मिथ्या प्रवृत्ति—की तरफ मनुष्य जायगा और दूसरी तरफ अप्रवृत्ति की तरफ जायगा।

खाना-पीना, क्रिया और आखिर में संथारा। संथारा यानी आज से मरने तक आहार नहीं करना। संथारा की अपनी कीमत है, लेकिन निवृत्ति नहीं। यह अच्छी प्रवृत्ति हो सकती है, लेकिन अप्रवृत्ति भी हो सकती है और ध्यान भी हो सकता है। यह संथारा (आमरण उपवास) किसी कारण शरीर मिटाने के लिए करते हैं। कारण कुछ नहीं लेकिन मरने तक उपवास। उस बीच में संथारा करनेवाले का चित्त चलित होने लगे, तो उसे विचलित नहीं होने देते उसे प्रेरित करते हैं, उत्साह देते हैं। एक दफा निश्चय किया है तो उसे नहीं तोड़ना चाहिए। इस तरह हर प्रकार से उत्साहित करते हैं। इस तरह उसका मरण शान्ति से होता है, बड़ा आनन्द होता है। इस तरह जैनियों में शरीर-त्याग करते हैं। इस सबमें मुझे उनके लिए आदर है, लेकिन इसे निवृत्ति समझना गलत है, यह प्रवृत्ति है।

हमारी बुनियाद निवृत्ति

कर्म अच्छा हो सकता है और खराब भी। ध्यान अच्छा भी हो सकता है, खराब भी और तीव्र क्रियात्मक भी। इस सारे विचार को हम साफ-साफ नहीं समझते और अप्रवृत्ति को निवृत्ति समझते हैं। यह मैं इसलिए स्पष्ट कर रहा हूँ कि हम जो काम करना चाहते हैं, उसकी बुनियाद निवृत्ति है। आज ही हमसे कहा गया कि कुछ लोगों का झुकाव निवृत्ति की तरफ दीखता है, लेकिन वैसा है नहीं। बोलने का एक रिवाज है। लेकिन वह निवृत्ति नहीं वह तो अप्रवृत्ति है। अप्रवृत्ति बहुत हीन वृत्ति है, 'प्रवृत्ति-विरोध निवृत्ति नव्हे' ज्ञानेश्वर लिखते हैं, प्रवृत्ति का विरोध निवृत्ति नहीं है।

●

अंदर से समेटे हुए जीना

एक वैदिक मंत्र है: 'तत्त् सूर्यस्य देवत्वम् तन् महित्वम् मध्या कर्तोः विततं संजभार' यह सूर्य की महिमा है और यही उसका देवत्व है। सूर्य की दिव्यता इसीमें है कि दिन में उसने जो किरण-जाल फैलाया उस शाम के समय समेट ले। काम चलते चलते बीच में ही उसे बंद कर दे। घोड़ा दौड़ रहा है। दौड़ते-दौड़ते उसे एकदम रोक दिया। इस तरह की जो सूर्य की शक्ति है, उसका शाम को दर्शन होता है। ऋषि उसकी प्रशंसा करते हैं। यह शक्ति परमात्मा रोज दिखा रहा है। हमारे मन में वासनाएँ और विचार हैं, वे दौड़ते रहते हैं। फिर भी नींद आ ही जाती है। अपनी इच्छा से नींद लेना बहुत बड़ी बात है—स्वपनं स्वकर्मोऽभ्यासि। अपने को सुलानेवाली शक्ति हममें नहीं है। वैसे आलस्य में सोना आसान है लेकिन कुल विचार एक क्षण में रोककर जिस क्षण चाहे सो जाना कोई मामूली बात नहीं है। 'अब मैं सो जाता हूँ' यह कहकर सो जाना बड़ी बात है। उसका अभ्यास करने का मौका रोज भगवान् हमें देता है। मृत्यु के समय भी सारा समेटना होता है। तब मन, बुद्धि प्रज्ञा वासना आदि सबको अपने साथ लेकर स्थूल को छोड़कर आत्मा चला जाता है। वह अपने साथ जो ले जाता है, वह वस्तु इतनी सूक्ष्म है कि आँखों से देखी नहीं जाती। उस समय शरीर गिर पड़ता है क्योंकि उसको धारण करनेवाली जो शक्तियाँ थीं उन सबको लेकर वह शरीर को छोड़कर चला जाता है। जो गया उसे नहीं देखा। जो शक्तियाँ लेकर गया उसे भी नहीं देखा। लोगों ने तो उसको देखा जो शरीर पड़ा है। उसीको आसपास के लोग रखते हैं। जान बूझकर, सोच विचारकर इच्छा के

मुताबिक सोना अभ्यास का विषय है और ऐसी ही मृत्यु के पहले मान हमेशा, जीवन में कोई नहीं कह सकता कि हम दो-चार साल पहले (बाद) यह करेंगे क्योंकि मृत्यु का क्षण निश्चित नहीं है। इसलिए मृत्यु के पहले—अपने प्रतिक्षण मृतवत् जीना यानी अपने को अन्दर समेटे हुए जीना बहुत बड़ी बात है।

चित्त एकांत और शरीर सेवा-युक्त हो

नामघोषा में एक पद है: 'जिसने एकान्त चित्ते माधवक भजि निते। पुरे माधवर गुण गाइ'—भक्त एकांत चित्त से भगवान् के गुण गाता हुआ फिर रहा है। वह फिरता भी रहता है और चित्त को एकांत में भी रखता है। यह अभ्यास की बात है। हम इस शरीर से अलग हैं, इसे पहचानना है। जहाँ आप शरीर से अलग हो जाते हैं, वहाँ एकदम सारी सृष्टि और समाज में घुल-मिल जाते हैं। यह अभ्यास का विषय है, जो हम रोज कर सकते हैं। सोने से पहले मृत्यु का अभ्यास करना चाहिए और ऐसे ही काम करते-करते इस सब काम से चित्त को अलग रखने का अभ्यास करना चाहिए। यह पढ़ने-सुनने आदि से प्राप्त नहीं होगा। इस दिशा में चित्त को गति देनी होगी। इसकी आदत डालनी होगी जिससे कि प्रतिक्षण हम कितना भी व्यवहार करें, जागरूकता पूर्वक करें।

आश्रम मोचन-साधन

हमारे जो आश्रम बने हैं उन सबका संचालन हम समाज सेवा और आत्मशुद्धि के लिए करना है। इसी ख्याल से ये आश्रम बनाये गये हैं। इन आश्रमों को बंधनरूप नहीं बल्कि साधनरूप देखा जाय। यह मन साधनरूप बनता है, जिसमें 'अहम्' अलग रहता है चाहे वह पाप भी हो। और यह तब बंधन रूप बनता है जिसमें अहम् स्थित हो जाता है चाहे वह पुण्य ही हो। इन आश्रमों को साधन या बंधन बनाना हमारी

प्रयत्न पर निर्भर करता है। यह शरीर जब एक मोह-धाम, माया-धाम, बंधन बहुत मुश्किल से बन सकता है और यह शरीर जब साधनरूप मुक्ति का साधन सेवा का साधन प्रयत्न से बन सकता है। बंधन बनने में खास प्रयत्न की जरूरत नहीं होती। जैसे शरीर बंधन-साधन बना उसमें किसी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं पड़ी वैसे ही ये आश्रम भी बन सकते हैं। उन्हें मोचन साधन बनाना हो तो प्रयत्न की जरूरत है।

मोचन-साधना का स्वरूप

उस प्रयत्न का स्वरूप क्या है इस पर सोचना होगा। उसका प्रथम स्वरूप है सावधानता, अप्रमाद, जागरूकता और दूसरा साधन है अपनी इन्द्रियाँ देह आदि को सतत आनन्ददायी काम में लगाना। जिस काम में सतत आनन्द मिलता रहे, वहाँ देह, मन, बुद्धि आदि को पूर्ण मौका मिलेगा और उनका पूर्ण उपयोग होगा। देह, मन बुद्धि आदि के जो विविध कार्य होते हैं, उनको हम उचित दिशा में नहीं ले जाते हैं, तो वे गलत दिशा में जाते हैं। वे रुक नहीं सकते। उन सबके कार्य रुक जायें इस प्रकार की काल्पनिक समाधि का विचार तत्त्वज्ञानियों ने किया है और उसकी कोशिश भी की गयी है, लेकिन उसमें सफलता नहीं मिली। उनके कार्य रुक जाते हैं, तो सिर्फ चन्द मिनटों के लिए। वे सतत रुक जायें यह नहीं हो सकता। हमेशा की अवस्था में वह जो उतरनेवाली समाधि है, वह काम की नहीं है। स्थितप्रज्ञ दर्शन में हमने लिखा है कि जो समाधि चढ़नेवाली और उतरनेवाली है, वह स्थिति नहीं है—वृत्ति है। जैसे निद्रा, जागृति स्वप्न सुषुप्ति ये तीन वृत्तियाँ हैं वैसे वह समाधि भी वृत्ति है निवृत्ति नहीं। ज्ञानदेव ने वर्णन किया है 'प्रवृत्ति निरोधें निवृत्ति नव्हे'— प्रवृत्ति को रोकने से निवृत्ति नहीं होती। वह भी एक महान् प्रवृत्ति है इसलिए इन्द्रिय आदि सबके कार्य थोड़ी देर के लिए रुक सकते हैं। वैसे रोकना समझदारी भी है उससे अपना संतुलन साधने में मदद होती है। १०—

?१मिनट के लिए नाक से लेकर चित्त तक उसको रोकना, यहाँ तक कि प्राण का भी रोकना बताया है यह बहुत ज्यादा लाभदायी नहीं है फिर भी थोड़ी देर के लिए किया जा सकता है। लेकिन ये क्रियाएँ कैसे तक नहीं सकतीं। या तो ये क्रियाएँ आपको गलत दिशा में ले जायेंगी या आप ही उनको सही दिशा में ले जायें। यह प्रयत्न का विषय है कि चित्त में लेकर देह तक सब साधनों को उचित दिशा में क्रियान्वित किया जाय।

जागरूकता स्थिति रहे, वृत्ति न बने

चित्त को निर्विप्त रखने की चेष्टा की जाय। अतः जागरूकता यह भाव उसकी चेष्टामात्र ही हो। यह चेष्टा माने क्रिया न बने। यह एक स्थिति है कि जहाँ क्रिया आयेगी वहाँ वृत्ति आयेगी। लेकिन हम चाहते हैं कि वृत्ति न रहे, स्थिति रहे। मैं मनुष्य हूँ, इसका हमें जप नहीं करना पड़ता। यह सहज याद है। यद्यपि यह याद भी नींद में नहीं रहती और न मृत्यु में रहनेवाली है इसलिए यह भी मनुष्य की बहुत मूलभूत स्थिति है ऐसा नहीं है लेकिन निरंतर अभ्यास के कारण मनुष्य के लिए मानवता स्वाभाविक हो गयी है। कहा जाता है कि 'हैबिट इज बिकम ए सेकण्ड नेचर' वैसे ही मानवता हमारा सेकण्ड नेचर बन गयी है। उसे बार-बार याद नहीं करना पड़ता यह चित्त पर बोझ नहीं है लेकिन उसके सिवा सब चीजें चित्त पर बोझ हो जाती हैं।

आत्मस्थिति और अभ्यास

अखबारों में पढ़ा था कि मरने से पहले कई दिनों तक [illegible] अनवस्थित (बेहोश) रहे। उन्हें जिलाने के लिए तरह तरह की चेष्टाएँ की गयीं, बाज दवाएँ दी गयीं। जानवरों को जीलने के लिए जो किया जाता है वह सब करना ही है। हम उसे अच्छा समझकर उसका प्रयोग करते हैं लेकिन वह होता है सरासर, वेदना ही। इस तरह की

वेदना लोग उन्हें देते रहे। ऐसे वे कंपनी आखिर तक काम करते रहे। पार्लियामेण्ट के लिए कुछ डिक्टेट कराना था तो सेक्रेटरी को इंग्लिश में डिक्टेट करा रहे थे। कराते-कराते वे हिन्दी बोलने लगे और थोड़ी देर बाद पहाड़ी बोलने लगे। उनका जन्म पहाड़ में हुआ था। बचपन में वे पहाड़ी बोलते थे, हिन्दी नहीं। हिन्दी पीछे सीखी थी। अंग्रेजी उसके भी बाद सीखी थी। अंग्रेजी का उनके चित्त के बिल्कुल ऊपर के स्तर पर स्थान था। हिन्दी का स्थान नीचे था और पहाड़ी का स्थान उससे भी नीचे। पहाड़ी बोलते-बोलते उनका बोलना बंद हो गया। वे मूर्छित हो गये और आखिर चल बसे। पहले अंग्रेजी, फिर हिन्दी, फिर पहाड़ी और फिर मौन। यह जो प्रक्रिया हुई वह बताती है कि हम किस प्रकार से अभ्यास करते हैं। उसकी एक सुव्यवस्थित श्रेणी मालूम होती है।

जब भाषाओं के बारे और झगड़े चल रहे थे, तब मैंने एक पत्र में लिखा था कि मनुष्य के लिए भाषा ईश्वर की देन नहीं है। वाणी ईश्वर की देन है। वाणी और भाषा में फर्क है। मनुष्यों की वाणी एक है वैसे पक्षियों की। भिन्न भिन्न जाति के पशुओं की एक-एक वाणी है वैसे ही अपनी भी एक वाणी है लेकिन भाषाएँ अनेक हैं। एक प्रांत के मनुष्य को बचपन से ही दूसरे प्रान्त में रखा जाय तो वह अपनी भाषा भूल जाता है और दूसरी भाषा सीख लेता है। इसका मतलब यह है कि भाषा माता-पिता की देन है, भगवान् की नहीं। भगवान् की देन तो वाणी है। वाणी भी आत्मा पर एक अभ्यास है। उपनिषदों में कहा है: 'स्वमसि माह जानासि माम् जानासि मम'—जो परमात्मा के पास जा रहा है, उसके आसपास के लोग उसे देखते हैं और जान लेते हैं कि अब अंतिम घड़ी आयी है, वह जा रहा है। तो माँ आकर उससे पूछती है कि "मैं कौन हूँ तुम जानते हो?" बाप भी यही पूछता है। उसने जवाब दिया, तो वे समझते हैं कि वह है। और अगर जवाब नहीं दिया तो समझते हैं कि नहीं है।

यावत् न वाक् मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि ।
तेजः परस्यां देवतायां तावत् जानाति ॥

—जब तक उसकी वाणी मन में लीन नहीं हुई, उसका मन बुद्धि में लीन नहीं हुआ, उसकी बुद्धि प्राणों में लीन नहीं हुई और प्राण परमात्मा में लीन नहीं हुए, तब तक वह जानता है। वाणी का मन में, मन का बुद्धि में, बुद्धि का प्राण में और प्राण का परमात्मा में लीन होना यह एक प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया जैसे निद्रा में होती है, वैसे ही मृत्यु में होती है। यह बहुत बड़ा पवित्र अज्ञान है। दूसरा ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है। आत्मा ज्ञाता नहीं है, ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानी तो आत्मा से भिन्न है। इसलिए वह आत्मा नहीं है, बुद्धि है। इसीलिए यह प्रक्रिया होती है और लोग मरनेवाले से पूछते हैं: 'जानासि माम्, जानासि माम्'। आत्मा पर जो व्यर्थ के अध्यास होते हैं, वे कटते जाते हैं। मैं फलाँ भाषा बोलनेवाला हूँ, फलाँ कुल का हूँ, फलाने देश का हूँ, इन सब अध्यासों से आत्मा हटना चाहता है। सबसे ऊपर का अध्यास पहले हटता है, उससे गहरा उसके बाद हटता है, और उससे गहरा और बाद हटता है। यह सारी प्रक्रिया पत्नी के आखिरी समय दिखायी दी।

स्विट्ज़रलैंड में एक मनुष्य का वर्णन है। वह मैट्रिक पास था। उसे साठ दिन बुखार आया, आखिर-आखिर में मूर्छा भी आयी। उसके बाद वह दुरुस्त हो गया। लेकिन फिर उसमें इंग्लिश का एक भी अक्षर पहचानने की शक्ति नहीं रही। उसका इंग्लिश का सारा ज्ञान खतम हो गया। बाद में उसे फिर से अंग्रेजी सिखाने की नौबत आयी। मतलब यह है कि उस अंग्रेजी का आत्मा के साथ ताल्लुक नहीं था। मूर्छा की अवस्था में वह अपनी मातृभाषा भी नहीं बोलता था। मूर्छा उतरने पर मातृभाषा जानता था, क्योंकि वह कुछ गहरी गयी थी। लेकिन अंग्रेजी उतनी गहरी नहीं गयी थी। इस तरह आत्मा पर बुद्धि का

अभ्यास होता है। जब मनुष्य आत्मा के निकट जाता है तो पाप्मा भी छूट जाती है।

संन्यास सहज स्थिति

मैं जब पहली बार पवनार गया था, तब बीमार था। बापू ने कहा कि स्वास्थ्य के लिए सब कुछ छोड़ दो। मैंने उनको आश्वासन दिया कि सब छोड़ दूँगा। वे मुझे हवाखोरी के लिए कहीं दूर भेजना चाहते थे। लेकिन मैंने कहा कि वर्धा से ४ मील दूर पवनार है, वहाँ जाऊँगा। उन्होंने कहा कि 'अच्छी बात है। गरीब लोग कहाँ दूर जा सकते हैं! तुम पवनार जाओ, बशर्ते कि सारे काम का बोझ छोड़ दो।' मैंने उनकी बात मानी। उस समय मैं चल नहीं सकता था, इसलिए मोटर से पवनार गया। जब हमारी मोटर पुल पर पहुँची तो मैंने कहा: 'संन्यस्तम् मया संन्यस्तम् मया संन्यस्तम् मया'—मैंने छोड़ा मैंने छोड़ा मैंने छोड़ा। पवनार में सब कुछ छोड़कर काम किया। लॉन में मैं घूमता था और कुछ थोड़ा बोलता था। मेरा मुख्य काम खेत में बैठकर पत्थर इकट्ठा करना था। यह मेरे लिए ऐसा काम था कि जो लाश भी कर सकता था। मेरे पास बात करने के लिए लोग आते थे। वे भी पत्थर उठाने लगे। उस वक्त मेरी यह क्रिया चलती थी। लेकिन मैं चित्त को अलग रखता था। यह अलग रखना कोई क्रिया नहीं थी। नहीं तो एक तो बाह्य क्रिया और चित्त को उससे अलग रखने की दूसरी क्रिया। इस तरह दो क्रियाओं से पीड़ित हो जाता! बाह्य क्रिया का बोझ और चित्त को उससे अलग करने की क्रिया का बोझ इस तरह दो बोझ उठाने की अपेक्षा एक ही उठाना ठीक है।

चित्त को अलग रखना सहज स्थिति है। इसमें कोई अभ्यास का विषय नहीं है। यह सब जाने तो चित्त में प्रसन्नता का झरना बहने

आता है। फिर आनन्द ही आनन्द रहता है। उसके कारण बुद्धि में समता रहती है।

स्थितप्रज्ञता आज अति आवश्यक

स्थितप्रज्ञ के लक्षणों की महिमा पहले से आज तक है ही। अब स्थितप्रज्ञ की आवश्यकता बहुत बढ़ गयी है। ऐसा मैं इसलिए कह रहा हूँ कि आज परिस्थिति में छोटे मसले रहते ही नहीं हैं। छोटा सा प्रश्न भी एकदम अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप ले लेता है। हम कहते हैं कि यह हमारे घर का प्रश्न है, लेकिन वह घर का नहीं रहता अन्तर्राष्ट्रीय बन जाता है। हम जब कश्मीर में घूमते थे तब हमने वहाँवालों से कहा था कि आप कहते हैं कि कश्मीर हमारे बाप का है। बाप के जमाने में जरूर वह उनका था। आज वह आपका नहीं है दुनिया का है। यह ठीक है कि वह जमाना अभी आपको नहीं दीखता है। आँखवाले को लंबा दीखता है, अंधे को नहीं। इस जमाने के छोटे छोटे प्रश्न देखते-देखते अन्तर्राष्ट्रीय बन जाते हैं और ऐसे प्रश्नों का फौरन उत्तर देना पड़ता है। पुराने जमाने में उत्तर देने में समय मिलता था। आज समय नहीं मिलता। कोई घटना बनने पर एकदम आपसे पूछा जाता है कि आपकी प्रतिक्रिया क्या हुई? पुराने जमाने में पानीपत की इतनी बड़ी लड़ाई हुई, लेकिन दुनिया को इसका पता ही नहीं था। लेकिन अब इधर गोवा की घटना हुई, तो १ घंटे के अंदर सारी दुनिया को मालूम हो गया और दुनियाभर में प्रतिक्रियाएँ हुई। लेख लिखे गये। ऐसी घटनाओं पर आपकी प्रतिक्रिया पूछी जाती है। तब क्या आप यों कहेंगे कि हम अभी अध्ययन ही कर रहे हैं, बाद में बतायेंगे! उनका उत्तर देने के लिए ज्यादा समय नहीं रहता है, ऐसी हालत में प्रज्ञा को स्थिर रखना, निश्चय शक्ति को दृढ़ रखना बहुत आवश्यक है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि इस जमाने में स्थितप्रज्ञ के लक्षणों की महिमा बढ़ गयी है।

आश्रम बंधनरूप न हों

हमने जो आश्रम बनाये हैं, वे साधनरूप हों, बंधनरूप न हों इस ओर ध्यान देना चाहिए। वे आसानी से बंधन बन सकते हैं। जैसे हमारी देह बंधन बनी है। उसे बंधन न बनने दिया जाय, साधन बनाया जाय उसके लिए सतत जागरूकता चाहिए और चित्त को लेकर देह तक सबको किसी अच्छे—सुंदर काम में लगाये रखना चाहिए। •

[विनोबाजी ने सन् १९२९ में एकादश व्रतों पर अपने विचार आश्रमवासियों के लिए लिखे थे। आश्रम-नियमों में ये व्रत भी थे। इन व्रतों में उन्होंने सर्वधर्म-समभाव का विवेचन नहीं किया है। सर्वधर्म-समभाव सम्बन्धी गांधीजी का विचार इसमें जोड़ा गया है। इसके अलावा अनन्यव्रत नामक बारहवाँ व्रत भी इसमें जोड़ा गया है जिसे विनोबाजी ने व्रतों में स्थान दिया है। 'व्रत-विचार' प्रकरण के संदर्भ में विनोबाजी के तत्सम्बन्धी ७ वर्ष पूर्व के विचारों को समझना जरूरी होने के कारण यह व्रत-परिचय यहाँ दिया जा रहा है।]

१ सत्य-व्रत

सामान्यतया असत्य के तीन प्रकार हो सकते हैं। हँसी-मजाक में असत्य बोला जाता है यह पहला प्रकार है। यह असत्य निरुपद्रवी माना जाता है। व्यवहार में स्वार्थ के कारण असत्य बोला जाता है यह दूसरा प्रकार है। यह असत्य लाभदायी माना जाता है। परार्थ के लिए अथवा देश हित के उद्देश्य से असत्य बोला जाता है यह असत्य का तीसरा प्रकार है। यह असत्य कर्तव्य माना जाता है। धर्म, अर्थ और काम—इन त्रिविध पुरुषार्थों की विपरीत कल्पना में से ये तीन प्रकार के असत्य निकले हैं। सत्यव्रत में इन तीनों प्रकार के असत्यों का त्याग विहित है। मित भाषण, चूँकि सत्य का रक्षक है, इसलिए इस व्रत में उसका भी समावेश मानना चाहिए। भावना ऐसी बने कि किसी भी कारण से वाणी द्वारा या मन में भी असत्य का आश्रय न लिया जाय। सत्य की खातिर

माता पिता आदि बुजुर्गों से कैसे व्यवहार किया जाय इसके लिए भक्त प्रह्लाद का दृष्टान्त ध्यान में रखा जाय। सत्यमेव जयते नानृतम्।

२. अहिंसा-व्रत

अहिंसा सभी धर्मों की मर्यादा है। हिंसा के दो प्रकार हैं: एक आत्मरक्षार्थ हिंसा दूसरा आक्रमक हिंसा। दोनों प्रकार की हिंसा से निवृत्त होना इस व्रत का अर्थ है। जिसे हम अन्यायी मानते हैं, उसकी भी हिंसा अपने हाथों न होने दें। उस पर क्रोध न करते हुए उसे दयाभाव से जीतें। माता पिता हो, सरकार हो या चाहे जो हो उनसे होनेवाले अन्याय का तो प्रतीकार अवश्य करें, लेकिन वह प्रतीकार हिंसक न हो। सत्य या अहिंसा का पालन करनेवाले को अन्याय के आगे कभी भी मस्तक झुकाना नहीं चाहिए। बल्कि सत्याग्रही बनकर तब तक लड़ते रहना चाहिए, जब तक जीत उसकी न हो जाय। तितिक्षा का अवलंबन करके मृत्युपर्यन्त भी देह दण्ड सहन करते रहें। अ पापं प्रतिपापः स्यात्।

३. ब्रह्मचर्य-व्रत

जब तक ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन नहीं होता तब तक उपर्युक्त व्रतों का पालन प्रायः असंभव है। इस व्रत की समाप्ति यहीं तक नहीं हो जाती कि पर-स्त्री के सम्बन्ध में मातृभाव रखें। इस व्रत में समीह न्द्रियों का सम्पूर्ण संयम गृहीत है। वास्तव में ब्रह्मचर्य शब्द से सभी वासनाओं का एकत्र समाहार हो जाता है। फिर भी विशेष तौर पर विषय-वृत्तियों का विकारों से निरोध करने के विशिष्ट अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस व्रत के अनुसार समस्त नारी-जाति के विषय में मातृभाव अथवा भगिनीभाव रखना होता है। इस व्रत का पालन करनेवाला विवाहित है, तो उसे वानप्रस्थ-वृत्ति से रहना चाहिए। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति।

४ अस्तेय-व्रत

अस्तेय व्रत केवल यह कहने के लिए नहीं है कि सामाजिक कायदे के अनुसार जिसे हम दूसरे की चीज मानते हैं, उसे चुराया न जाय। अन्न वस्त्र आदि के उत्पादन में यानी श्रमकर्म में प्रत्यक्ष भाग न लेते हुए अन्न वस्त्र आदि का उपभोग करना भी चोरी है। यही अदत्त-आदान कहलाता है। इसका अर्थ इतना ही नहीं कि दूसरों द्वारा न दी हुई चीज लेना, बल्कि यह भी कि दूसरों को कुछ भी न देते हुए उनसे लेना। बिना त्याग के भोग का नाम चोरी है। भगवानने भी यही कहा है : 'स्तेन एव सः'।

५. अपरिग्रह-व्रत

सृष्टि का स्वरूप 'अल्पत्व' है। यानी सृष्टि के पास कम का संग्रह भाव नहीं है। इसीलिए मनुष्य को भी अल्पत्व-संग्रह रखना चाहिए। यदि मैं २५ दिनों का संग्रह भाव करके रखता हूँ, तो इसका अर्थ होगा कि मैंने २४ लोगों का भाव का संग्रह चुराकर रखा है। और उनसे लोगों को कम-ज्यादा प्रमाण में भूखे रखने का पाप मेरे मत्थे चढ़ेगा। साथ ही चूँकि सृष्टि में अधिक संग्रह ही नहीं है, इसलिए इतना संग्रह जमा करने के लिए मुझे कुटिल मार्ग का सहारा लेना होगा। एकदम संग्रह करने में मेरी शक्ति पर तनाव पड़ता है, इसलिए मेरी शीघ्र-हानि होती ही रहती है। इसके अलावा इतना परिग्रह सुरक्षित रखने की चिन्ता में मैं ग्रस्त हूँ, इसलिए मेरा मन शुद्ध नहीं रह सकता। यानी परिग्रह की एक कृति में सत्य, अहिंसा अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँचों व्रतों का सामूहिक भंग होता है। इसलिए कम-से-कम, केवल शरीर-निर्वाह भर के लिए ही संग्रह करें और शरीर के धारण-पोषण में जिन वस्तुओं की आवश्यकता नहीं है, उनका तो बिलकुल ही परिग्रह न करें। इस बात का निरंतर विचार करते हुए कि किन-किन वस्तुओं के बिना भी

जीवन चल सकता है अथवा जीवन उत्तरोत्तर सादा बनाने का प्रयत्न करें। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा।

६ अभय-व्रत

भीति और नीति—ये दोनों परस्परविरुद्ध विचार हैं। अभय-वृत्ति दैवी संपदा की बुनियाद है। उपर्युक्त पाँच महाव्रतों का पालन करनेवाले पुरुष को किसीसे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं रहती। इसलिए इस व्रत का तथा बादके व्रत का स्वतंत्र उल्लेख खास महत्त्व की दृष्टि से ही किया है—ऐसा समझ लें। सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो पाँचों महाव्रतों का एक ही व्रत में समावेश किया जा सकता है। लेकिन स्पष्ट अर्थबोध हो, इसलिए जिस प्रकार एक व्रत के पाँच व्रत बनाये गये हैं, उसी प्रकार अभय आदि उप व्रतों का स्वतंत्र विचार किया गया है। हरएक आदमी किसी भी व्रत का पालन नहीं कर सकता। इसलिए राजा प्रजा चोर, परिवार आदि से अथवा मृत्यु से भी न डरते हुए सत्याग्रह से यानी आत्मबल से अपनी तथा दूसरों की रक्षा करें। अभयं सर्वभूतेभ्यः।

७ अस्वाद-व्रत

ब्रह्मचर्य का पालन इसलिए कठिन होता है कि रसनेंद्रिय का निग्रह नहीं हो पाता। साधना की उत्कटता का एक महत्त्वपूर्ण मापदण्ड रसना-जय है। इसलिए यह एक व्रत बना है और इसके अनुसार अपना आहार उत्तरोत्तर कम करने की ओर साधक का ध्यान रहना चाहिए। जब तक पेट पर बोझ का अत्याचार जारी रहेगा तब तक स्वतंत्रता की आशा रखना व्यर्थ है। भोजन केवल शरीर-यात्रा चलाने का साधन है। इससे अधिक इसे महत्त्व नहीं देना चाहिए। आहार का स्वादपूर्वक सेवन करना हिंसा है। इसलिए कृत्रिम रस पैदा करके विकारों को उत्तेजित करनेवाले सभी पदार्थों का धीरे-धीरे त्याग किया जाय। आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः।

८ स्वदेशी-व्रत

स्वदेशी मनुष्य का जन्मसिद्ध कर्तव्य है। स्वदेशी यानी व्यापक अर्थ में स्वावलंबन अथवा स्वधर्म। स्वदेशी में देश प्रायः सापेक्षिक है, अतः उसमें भाषा, रीति-रिवाज, पोशाक, विद्या आदि कई चीजों का समावेश होता है। अपने शरीर की जानकारी प्राप्त करने से पहले मेंढक के शरीर की जानकारी कर लेने के हेतु से मेंढक को चीरते बैठना स्वदेशी व्रत का भंग करना है तथा आत्मा को छोड़कर, अपने ही धर्मों न हों शरीर का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करना भी स्वदेशी व्रत के विरुद्ध है। वर्तमान परिस्थिति का अध्ययन न करके भूतकाल के इतिहास के पीछे पड़ना भूगोल को छोड़कर खगोल का अध्ययन करना घर को छोड़कर पड़ोसी की छानबीन करना स्वदेशी के खिलाफ है। इस पर से स्वदेशी की व्याप्ति समझ में आयेगी। अहिंसा जिस प्रकार धर्म की मर्यादा है, उसी प्रकार व्यवहार की मर्यादा स्वदेशी है। समीप की वस्तु या रीति-नीति मनुष्य को स्वभावप्राप्त है और इसीलिए प्रिय होती है। इसीमें स्वदेशी या स्वधर्म का रहस्य है। पड़ोस की दूकान छोड़कर दूर की दूकान पर जाने में प्रायः स्वार्थ-बुद्धि रहती है। भारत ने स्वदेशी-व्रत भंगरूपी महापातक किया और इसीलिए भारत में अब बुनाई का धंधा खतम मरने लगा है। शुद्ध स्वदेशी में यंत्रों को स्थान नहीं है। यांत्रिक कामों में बहुत बड़ी हिंसा होती है। यंत्र बनाने में फिर उनको चलाने में बेहद अग्निप्रयोग होता है और उससे असंख्य जीवों का नाश होता है। मिल-मालिक अपने स्वार्थ के लिए गरीब मजदूरों की दुर्गति करते हैं। यंत्रों से पैदा होनेवाली चीजों में घटिया माल का मिश्रण बहुत होता है। उन वस्तुओं की प्रशंसा ऐसे गुणों के वर्णन के साथ की जाती है जो गुण उनमें हैं ही नहीं। यंत्रों की मदद से संपत्ति का केन्द्रीकरण होता है और इससे अस्तेय-व्रत का भंग होता है। यांत्रिक माल पैदा होते ही उसकी खपत शुरू होने लगती है, जिससे अपरिग्रह व्रत का भंग होता है। यांत्रिक

वस्तु का उपयोग करने की आदत पड़ती है तो ध्यान शौक़ की भी बढ़ती है और यह कृत्रिम सौंदर्य ब्रह्मचर्य व्रत के पालन के लिए बाधक है। इसलिए इस व्रत के अनुसार आश्रमवासी हाथ-कते सूत से हाथ-करघे पर बुने गये सीधे-सादे कपड़े ही काम में लेंगे। मशीन के पिसे आटे का उपयोग नहीं करेंगे। रसोई का तत्त्व अपनायेंगे। बाजार का उपयोग भरसक कम करेंगे। यही बात हर चीज पर लागू होती है। स्वकर्म विवर्म प्रेषा।

९. शरीरश्रम-व्रत

मनुष्य-जाति की जीविका का निर्माण निर्मित साधन केवल शरीर श्रम ही है। मानसिक शक्तियों का उपयोग विषय भोग के निमित्त करना पाप है। शरीर-श्रम से ही शरीर-यात्रा चलाने के एक नियम से सभी धर्मों का पालन करना आसान होता है। शरीर श्रम से मन ऊबता है, तो यह अधोगति का लक्षण है। शारीरिक श्रम का तत्त्व खतम होने के कारण समाज में कृत्रिम भेद पैदा होते रहते हैं। इसलिए आश्रमवासी खेती बुनाई, बढ़ईगिरी या इसी प्रकार के मौलिक उद्यम में भाग लेंगे। शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।

१०. स्पर्शभावना-व्रत

परंपरा के अनुसार चमार, भंगी आदि अंत्यज जातियों को अस्पृश्य माना जाता है। उनका स्पर्श होने से दूसरे हिन्दू मानते हैं कि वे अपवित्र हो गये। यह हिन्दू समाज का कलंक है। यह अधम परंपरा पापूर्ण का नाश करनेवाली है। अतः उससे मुक्त होना धार्मिक हिन्दू का कर्तव्य है। अस्पृश्यता से कई अनर्थकारी परिणाम आते हैं। इस पाप से मुक्त होने के लिए आश्रम में भंगी आदि के छू जाने को पाप नहीं माना जाता। अंत्यजों के काम की पवित्रता का अनुभव करने की दृष्टि से आश्रम के पाखाना को आश्रमवासी ही साफ करें—यही नित्य-धर्म माना है।

दूसरों की तरह अस्पृश्य जाति के लोगों को भी आश्रम में प्रवेश पाने की मनाही नहीं है। नमः पूर्वजाय च अपरजाय च।

११ सर्वधर्म-समभाव

हमारे व्रतों में सहिष्णुता के नाम से परिचित व्रत का यह नया नाम दिया गया है। सहिष्णुता अंग्रेजी शब्द 'टॉलरेशन' का अनुवाद है। मुझे यह पसन्द न था। पर उस समय दूसरा शब्द सूझता नहीं था। काकासाहब को भी यह नहीं रुचा था। उन्होंने 'सर्वधर्म-आदर' शब्द सुझाया। मुझे वह भी नहीं जँचा। दूसरे धर्मों को सहने की भावना में उनमें न्यूनता मानी जाती है। आदर में कृपा का भाव आता है। अहिंसा हमें दूसरे धर्मों के प्रति समभाव सिखाती है। आदर और सहिष्णुता अहिंसा की दृष्टि से पर्याप्त नहीं हैं। दूसरे धर्मों के प्रति समभाव रखने के मूल में अपने धर्म की अपूर्णता का स्वीकार भी आ ही जाता है। सत्य की आराधना, अहिंसा की कसौटी यही सिखाती है। संपूर्ण सत्य को यदि हमने देख लिया होता तो फिर सत्य के आग्रह की क्या बात थी? तब तो हम परमेश्वर हो गये होते, क्योंकि हमारी भावना है कि सत्य ही परमेश्वर है। हम पूर्ण सत्य को पहचानते नहीं हैं, इसलिए उसका आग्रह करते हैं। इसीसे पुरुषार्थ की गुंजाइश है। इसमें अपनी अपूर्णता की स्वीकृति आ गयी है। यदि हम अपूर्ण हैं, तो हमारे द्वारा कल्पित धर्म भी अपूर्ण है, स्वतन्त्र धर्म संपूर्ण है। हमने उसे देखा नहीं है, वैसे ही जैसे ईश्वर को नहीं देखा है। हमारा माना हुआ धर्म अपूर्ण है और उसमें सदा परिवर्तन होते रहते हैं, होते रहेंगे। यह होने से ही हम उत्तरोत्तर ऊपर उठ सकते हैं, सत्य की ओर, ईश्वर की ओर दिन-प्रति-दिन आगे बढ़ सकते हैं। जब मनुष्य-कल्पित सब धर्मों को अपूर्ण मान लें, तो फिर किसीको ऊँच-नीच मानने की बात नहीं रह जाती। सभी सच्चे हैं पर सभी अपूर्ण हैं, इसलिए दोष के

पात्र हैं। समभाव होने पर भी हम उनमें दोष देख सकते हैं। हमें अपने में भी दोष देखना चाहिए। उस दोष के कारण उसका त्याग न करें बल्कि दोष को दूर करें। इस प्रकार समभाव रखने से दूसरे धर्मों के ज्ञान-भंडार को अपने धर्म में लेने में संकोच न होगा। इतना ही नहीं, बल्कि ऐसा करना धर्म हो जायगा।

सब धर्म ईश्वरदत्त हैं पर मनुष्य-कल्पित होने के कारण, मनुष्य द्वारा उनका प्रचार होने के कारण वे अपूर्ण हैं। ईश्वरदत्त धर्म अगम्य है। उसे भाषा में मनुष्य प्रकट करता है, उसका अर्थ भी मनुष्य लगाता है। किसका अर्थ सच्चा माना जाय? सब अपनी-अपनी दृष्टि से जब तक वह दृष्टि बनी है तब तक सच्चे हैं। पर सबका झूठा होना भी असंभव नहीं है। इसीलिए हमें सब धर्मों के प्रति समभाव रखना चाहिए। इससे अपने धर्म के प्रति उदासीनता नहीं आती बल्कि स्वधर्मविषयक प्रेम अंधा न रहकर ज्ञानमय हो जाता है, अधिक सात्विक, निर्मल बनता है। सब धर्मों के प्रति समभाव आने पर ही हमारे दिव्य चक्षु खुल सकते हैं। धर्मांधता और दिव्यदर्शन में उत्तर-दक्षिण जितना अन्तर है। धर्म-ज्ञान होने पर अंतराय मिट जाते हैं और समभाव उत्पन्न हो जाता है। इस समभाव के विकास से हम अपने धर्म को अधिक पहचान सकते हैं।

यहाँ धर्म-अधर्म का भेद नहीं मिटता। यहाँ तो उन धर्मों की बात है जिन्हें हम निर्धारित धर्म के रूप में जानते हैं। इन सभी धर्मों के मूल सिद्धान्त एक ही हैं। सभी में सत्स्त्री-पुरुष हो गये हैं, आज भी मौजूद हैं। इसलिए धर्मों के प्रति समभाव में, और धर्मियों—मनुष्यों के प्रति जिस समभाव की बात है उसमें कुछ अंतर है। मनुष्यमात्र—दुष्ट और भद्र के प्रति, धर्मी और अधर्मी के प्रति समभाव की अपेक्षा है, पर अधर्म के प्रति तो कदापि नहीं है।

तब प्रश्न यह होता है कि बहुत-से धर्मों की आवश्यकता क्या है? हम जानते हैं कि धर्म अनेक हैं। आत्मा एक है, पर मनुष्य-देह असंख्य हैं। देह की असंख्यता टाले नहीं टल सकती, तथापि आत्मा की एकता को हम पहचान सकते हैं। धर्म का मूल एक है जैसे वृक्ष का, पर उसके पत्ते असंख्य हैं।

यह विषय इतने महत्त्व का है कि इसे यहाँ और विस्तार से लिखना चाहता हूँ। अपना कुछ अनुभव लिख दूँ तो शायद समभाव का अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाय। यहाँ की तरह फिनिक्स में भी नित्य प्रार्थना होती थी। वहाँ हिन्दू, मुसलमान और ईसाई थे। स्वर्गीय सेठ रुस्तमजी या उनके लड़के प्रायः उपस्थित रहते ही थे। सेठ रुस्तमजी को 'मने वहालुं वहालुं दादा रामजी नुं नाम' (मुझे राम-नाम प्रिय है) बहुत अच्छा लगता था। मुझे याद आ रहा है कि एक बार मगनलाल या काशी हम-सबको गवा रहे थे। रुस्तमजी सेठ उल्लास में बोल उठे—"'दादा रामजी' के बदले 'दादा होरमज्द' गाओ न!" गवाने और गानेवालों ने इस सूचना पर तुरन्त इस तरह अमल किया, मानो वह बिलकुल स्वाभाविक हो। और इसके बाद से रुस्तमजी जब उपस्थित होते तब तो अवश्य ही, और जब न होते तब भी कभी-कभी हम लोग यह भजन 'दादा होरमज्द' के नाम से गाते। स्व॰ दाऊद सेठ का पुत्र हुसेन तो आश्रम में बहुत बार रहता। वह प्रार्थना में उत्साहपूर्वक शामिल होता था। वह खुद बहुत मधुर सुर में 'आर्गन' के साथ 'यह बहारे बाग दुनिया चंद रोज' गाया करता और यह भजन हम सबको उसने सिखा दिया था। वह बहुत बार प्रार्थना में गाया जाता था। हमारे यहाँ की आश्रम भजनावली में उसे स्थान मिला है। वह सत्य-प्रिय हुसेन की स्मृति है। उससे अधिक तन्मयता से सत्य का आचार करनेवाला नवयुवक मैंने नहीं देखा। जोसफ रोयपेन आश्रम में अक्सर आते-जाते थे। वे ईसाई थे। उन्हें 'वैष्णव जन' वाला भजन बहुत अच्छा लगता था। संगीत का उन्हें अच्छा ज्ञान था। उन्होंने

'पैक्ल बन' के स्थान पर 'ज्ञिरियकन बन तो ऐसे कहिये' अलाप दिया। उसने तुरन्त उनका साथ दिया। मैंने देखा कि बालक के आनन्द का पारावार न रहा।

आत्मसंतोष के लिए जब मैं भिन्न-भिन्न धर्म पुस्तकें उलट रहा था तब मैंने इसाई, इस्लाम, पारसी, यहूदी और हिन्दू, इतनों की पुस्तकों का अपने संतोषभर के लिए परिचय कर लिया था। मैं कह सकता हूँ कि इस अध्ययन के समय सभी धर्मों के प्रति मेरे मन में समभाव था। मैं यह नहीं कहता कि उस समय मुझे यह ज्ञान था। उस समय समभाव शब्द का भी पूरा परिचय न रहा होगा, परन्तु उस समय की अपनी स्मृतियाँ ताजी करता हूँ तो मुझे याद नहीं आता कि उन धर्मों के सम्बन्ध में टीका-टिप्पणी करने की इच्छा तक हुई हो। वरन्, उनके ग्रन्थों को धर्म-ग्रन्थ मानकर आदरपूर्वक पढ़ा और सभी मूल नैतिक सिद्धांत एक-सैन ही पाता था। कितनी ही बातें मैं नहीं समझ सकता था। यही बात हिन्दू धर्म ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी थी। आज भी कितनी ही बातें नहीं समझता पर अनुभव से देखता हूँ कि जिसे हम नहीं समझ सकते वह गलत ही है यह मानने की जल्दबाजी करना भूल है। कितनी ही बातें पहले समझ में नहीं आती थीं वे आज दीपक की तरह दिखाई देती हैं। समभाव का अभ्यास करने से अनेक गुत्थियाँ अपने-आप सुलझ जाती हैं और जहाँ हम दोष ही दिखाई दे वहाँ उन्हें दरसाने में भी नम्रता और विवेक रहने के कारण किसीको दुःख नहीं होता।

एक कठिनाई शायद रह जाती है। पिछले लेख में मैंने कहा है कि धर्म धर्म का भेद रहता है और धर्म के प्रति समभाव रखने का अभ्यास करना यह उद्देश्य नहीं है। यदि ऐसा हो तो धर्माधर्म का निर्णय करने में भी क्या समभाव की भावना नहीं टूट जाती? यह प्रश्न उठ सकता है और यह भी सम्भव है कि ऐसा निर्णय करनेवाला भूल कर बैठे। परन्तु हममें यदि सच्ची अहिंसा मौजूद रहे तो हम वैरभाव से बच जाते हैं

दोष मैं क्या देखूं ? मुझमें क्या कम दोष हैं ? मैं भी तो दोषों से भरा हूँ। यह बात ध्यान में आयी। फिर दूसरे के 'छोटे गुण भी बड़े देखें और अपने दोष बड़े देखें' इस तरह सोचने लगे। 'परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यम्।' (भर्तृहरि) यह बापू ने कहा तब हमने पूछा कि यह सारा सत्य के साथ कैसे मेल खायेगा ? उन्होंने जवाब दिया कि आँखों में दो इंच का माप है, तो तुम पचास मील समझते हो कि दो इंच ही मानते हो ? इसलिए दूसरे के गुण कम होने पर भी ज्यादा मानना चाहिए। यही सम्यक होगा। बौद्धिक प्रश्नों का उन्होंने बौद्धिक जवाब दिया। फिर हमारी यह क्रिया जारी हुई।

उसके बाद फिर ध्यान में आया कि अपना दोष जो दीखता है, वह वास्तव में अपना नहीं है। वह तो देह के साथ जुड़ा हुआ है। जो अपना नहीं है, उसे क्या पकड़ना ? इसी तरह दूसरों के भी दोष उनके नहीं हैं, उनकी देह के हैं, तो हम उनके दोष देखें ही क्यों ? हर चीज का हमें गुण मानना चाहिए और अपना भी गुण ही मानना चाहिए। गुण यानी भगवान् है। तब से हम अपना गुण ही गाते हैं, तो लोग हमें घमण्डी कहते हैं। आत्म प्रशंसा करता है, ऐसा कहते हैं। अब आत्मा की प्रशंसा नहीं करेंगे, तो क्या करेंगे ? देह के साथ जो चीज है वह देह के साथ खत्म होती है। हम अपना गुण ही देखना चाहिए। यही वास्तव में असल चीज है। देह के साथ दोष आते हैं और जाते हैं, उनकी चर्चा और उच्चारण नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह ऊपर की स्थिति है। गुण आत्मा के साथ जुड़े हैं। निर्गुण आत्मा तो अस्तित्वमात्र है। वह ब्रह्म के रूप में रहता है।

व्रत को बंधन मानना गलत

हमारी उलझन यह है कि अहिंसा आदि व्रतों को हम बंधन समझने लगे हैं, जिनके कारण जीवन अत्यन्त सुरक्षित रहता है और चित्त को चंचल होने का मौका ही नहीं मिलता। जिनके कारण दैहिक स्थिति बिल्कुल आसान, सहज, सहज-भाव के जैसा मामूली हो जाता है उन्हें व्यर्थ ही हम बंधन मान बैठे हैं और 'व्रत नहीं करने चाहिए' ऐसा कहते हैं। मैं तो मानता हूँ कि यह बिल्कुल विकृत मनःस्थिति है।

वेद में कहा है 'सूर्य भगवान् ने रोज समय पर उगने का व्रत धारण किया है। अगर वह समय पर न उगे और कहे कि किसी दिन मैं थोड़ा देर से उगूँगा तो क्या होगा?' रोज समय पर उगना आदित्यव्रत है। पानी में बराबर रमा रहता है यह वरुणव्रत है। इस तरह 'व्रत' एक पवित्र शब्द है जो वेदकाल से चला आया है। गीता में कहा है 'सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।' (९।१४) इतना पवित्र शब्द आज तक चला आया है और लोग बोझ समझते हैं! जाने जो सारा पवित्र प्रवाह है, उससे दूर रहना चाहते हैं, तो यह गुमराह मनोवृत्ति है।

लोग कहते हैं कि हम अपने मन के मुताबिक चलेंगे। इसके मानी हैं कि मन जो अपना नौकर है, उसकी बात मानेंगे। नौकर के मुताबिक चलनेवाले सब स्वातंत्र्यवादी हैं। वे कहते हैं कि हम और किसीकी नहीं सुनेंगे, अपने नौकर की सुनेंगे। अगर वे कहते कि हम मन की बात नहीं सुनेंगे, बाबा की सुनेंगे, तो स्वातंत्र्यवादी कहलाते। लेकिन यह जो अपना मन है यह मनाजीराव जो अपने सिर पर बैठा है उसकी मुट्ठी में

रहनेवाला उसका अनुसरण करनेवाला आश्रम नहीं है, पर बहुत ही गुम्फन है।

व्रतों का संक्षिप्त इतिहास

गांधीजी ने जो नियमें बताईं, उनका इतिहास बहुत पुराना है। जैन उन्हें 'पंचयाम' कहते हैं, बौद्ध 'पंचशील' और योगशास्त्रकार 'पंचयम'। इनका मूल वेद में है। वहाँ पर कहा गया है "अहिंसा सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये पंचविध यम हैं।" बिल्कुल प्रारम्भ में एक ही व्रत था फिर चार व्रत और हो गये—सत्य, अहिंसा अस्तेय और अपरिग्रह। पार्श्वनाथ के समय चातुर्याम थे। वहाँ अपरिग्रह आया वहाँ ब्रह्मचर्य आ ही गया। या यह भी हो सकता है कि उसका महत्त्व उस समय न रहा हो। इन दो में से कौन-सी बात सही है, इसका निर्णय हम नहीं कर सकते। महावीर ने साफ करते हुए कहा कि इसके साथ ब्रह्मचर्य को जोड़ना जरूरी है। भारतीय संस्कृति बौद्ध, जैन और वैदिक तीनों मिलकर बनी है। इसके अलावा बाद में इस्लाम धर्म और इसलाम का भी उसे लाभ मिला है।

गांधीजी की व्रतों के बारे में देन

हमारे देश में व्रत यतियों के लिए रिजर्व (सुरक्षित) रखे गये। गांधीजी ने कहा कि इस तरह रिजर्व रखना गलत है। उन्होंने सबके लिए व्रतों की आवश्यकता बतायी और उन्हें सामान्य लोगों के लिए भी लागू किया। यह उनकी सबसे बड़ी सेवा है कि उन्होंने सामाजिक सेवा के क्षेत्र में आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना की और कहा कि सामाजिक सेवा में आध्यात्मिक मूल्यों का प्रयोग न हो तो उनका मुख्य प्रयोजन ही खत्म हो जाता है। ध्यान के लिए इन व्रतों का पालन जितना जरूरी है उतना ही जरूरी सामाजिक सेवा के लिए भी है। याने इनका सामाजिक मूल्य है। सेवा जान का भी सामाजिक मूल्य है। जिन्होंने ध्यान के लिए

व्रत जरूरी माना था। उन्होंने भी सामाजिक मूल्यों को माना ही था। लेकिन गांधीजी ने सर्वसाधारण के लिए इन व्रतों को जोड़ दिया। यह मैं इसलिए कह रहा हूँ कि विचार की सफाई हो और हम ऐसा न मानें कि सामाजिक मूल्य में व्रतों को हम ही ला रहे हैं और पुराने लोगों को यह बात सूझी नहीं थी। सामाजिक मूल्यों का चिन्तन करके बापू ने यह विचार रखा कि जिन गुणों को हम स्वीकार करते हैं उनका सामाजिक मूल्य न हो तो उनकी कीमत कम हो जाती है यानी व्यापकता से निकम्मे ही हो जाते हैं। यह तो आज तक आचार्यों ने भी माना था। वे कहते थे कि छोटे-छोटे नियम और व्रत में अंतर है। नियम तो व्रत-पालन के लिए होते हैं। नियम के साथ अपवाद भी चाहिए। नियम और अपवाद दोनों व्रतों की रक्षा के लिए जरूरी हैं।

व्रत विचार और संस्कारपूर्वक हों

अब यह विचार आया है कि व्रतों का उपयोग भी बुद्धिपूर्वक, समझपूर्वक हो। जिनमें विचार की शक्ति नहीं है उन पर व्रत लादा जाय और बाद में उनमें पंगुता आये, यह गलत है। भक्ति को महत्त्व देकर ज्ञान को लज्जित करना और ज्ञान को महत्त्व देकर भक्ति को लज्जित करना इसको आचार्यों ने 'नय' नाम दिया था। नयवाद और प्रमाणवाद की चर्चा आचार्यों ने की है। ऐसे वाक्य जो एक अंश में सही हैं, वे 'नय' वाक्य हैं और जो सब अंश में सही हैं, वे 'प्रमाण' वाक्य हैं। नामघोषा में कहा है : "केवल भक्ति ही पुरुष को तारती है।" नामघोषा का यह वाक्य 'प्रमाण' वाक्य नहीं है, 'नय' वाक्य है। उसमें सत्य का बड़ा अंश पड़ा है लेकिन पूर्ण सत्य नहीं है। अंडरस्टैंडिंग के बिना, विचार के बिना व्रत नहीं लेने चाहिए, ऐसा कहना ठीक है। चार साल के बच्चे को ब्रह्मचर्य की दीक्षा देना उतना ही गलत है जितना गलत चार साल के बच्चे की शादी करना। शादी क्या है यह समझने की उसकी स्थिति नहीं है। शादी का

विचार उसके मन में अंकुरित ही नहीं हुआ, लेकिन चार साल के बच्चे को ब्रह्मचर्य की दीक्षा देने में एक विचार है। ब्रह्मचर्य आत्मा का स्वभाव है। इसलिए बचपन से ब्रह्मचर्य के संस्कार दिये जायें तो वे पक्के होंगे। संस्कार देना ठीक है, लेकिन उसे ब्रह्मचर्य की दीक्षा देना गलत है।

बहुत से लोग यह कहनेवाले मिले हैं कि हम ब्रह्मचर्य का व्रत नहीं लेते हैं। सहज भाव से ही वह होता है। यह एक सहजिया पंथ है। अपने देश में इसके अलावा और तीन पंथ थे, निर्गुणिया पंथ, सगुणिया पंथ और नानक पंथ। 'सहज' शब्द का अर्थ होता है 'जन्म के साथ।' संस्कृत शब्दों को बारीकी से देखना होता है। हमारा सहज धर्म क्या है यह कहना बहुत कठिन है। इंग्लिश में एक शब्द है 'माइंड'। इसका तर्जुमा अपनी भाषा में 'मन' करना गलत है। हमारे यहाँ मन, बुद्धि, अहंकार आदि वर्गीकरण हैं। उनके यहाँ दूसरे प्रकार का वर्गीकरण है। इसलिए उनके वर्गीकरण का कोई शब्द हमारे वर्गीकरण के शब्द के साथ को-इनसाइड नहीं करता है। हमारे किसी भी मानसशास्त्रीय शब्द के लिए उनका ठीक मानसशास्त्रीय शब्द नहीं मिलता और उनके किसी भी मानसशास्त्रीय शब्द के लिए हमारा शब्द नहीं मिलता। ऐसी हालत में हम कहते हैं कि सारा सहज भाव से होना चाहिए, सप्रेशन (दबाना) नहीं होना चाहिए। तो मैं पूछता हूँ कि मंथन (संस्कार) होना चाहिए या नहीं ?

स्पर्श-भावना

हमने 'स्पर्श भावना' शब्द गांधीजी के शब्द से भिन्न शब्द बनाया है। गांधीजी का शब्द था 'अस्पृश्यता-निवारण'। 'स्पर्श भावना' शब्द व्यापक है। हमारा कुल विश्व के साथ स्पर्श हो, इस प्रकार की भावना होनी चाहिए। हम अपने को विश्व से अलग नहीं मानते। इसलिए

'सर्व-भावना' धर्म सनातन है। जहाँ आप अपने को अलग समझेंगे, दुनिया से कटे हुए समझेंगे, वहाँ सर्व-भावना व्रत का भंग हुआ।

अपरिग्रह

अपरिग्रह की बात पूरी तरह से समझ लेनी चाहिए। आप चाहते क्या हैं—"The more you have the less you are." आप क्या बढ़ाना चाहते हैं? पदार्थ बढ़ाना या अपने-आपको बढ़ाना? अपने आपको क्षीण करनेवाला परिग्रह तो हम न करें। मौत खोकर खाना लेने से नहीं चलेगा। हम अपने को कम करें और उसके बदले में पदार्थ की भरमार हो जाय यह ठीक नहीं है। अपरिग्रह के लिए बहुत सुंदर दृष्टि है, बाकी समष्टि के समाज से जो परिग्रह जरूरी है, वह रखना चाहिए।

अस्वाद

अगर हम स्वाद के वश होते हैं, तो नाहक वस्तु का सेवन होता है। उत्पादन करनेवाले को कितनी तकलीफ होती है! नेपोलियन ने कहा था कि मेरा आरोग्य इसमें है कि जिस क्षण मैं सोना चाहता हूँ उस क्षण सो जाता हूँ। अगर हम कम खाने का सिद्धांत बनायें तो हमारा आरोग्य ठीक रहेगा। स्वाद के कारण हम लगभग दुगुना खाते हैं। इससे समाज को पीड़ा होती है। जो स्वाद में फँसा है वह पराधीन है। वह अपनी शक्ति क्षीण कर रहा है। स्वाद करते हैं, तो इंद्रियों की वासना जोर करती है। परिणामस्वरूप हम समाज की हानि करते हैं।

व्रत समन्वित धर्म

एक धर्म निष्ठा होता है जैसे मानव धर्म। वह अंतर बाह्य दोनों को छूता है। नदी के दोनों तटों को छूनेवाला पुल कहलाता है। अगर वह

एक ही नाव पर पुण्य और पाप दोनों नहीं चल पायेगा। इसी तरह इस छोर का उस छोर से जोड़नेवाला काम करता है। एक ओर चिंतन और ध्यान है, दूसरी ओर कर्म। दोनों को जोड़नेवाला है धर्म। इसलिए उसकी 'उभय धर्म'—दुगुना मूल्य है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—ये व्रत ऐसे हैं जो आत्मशुद्धि के काम में भी आते हैं और समाज धारण के काम में भी आते हैं। •

स्वाध्याय

स्वाध्याय का अर्थ ग्रंथ नहीं

स्वाध्याय का अर्थ लोग प्रायः आध्यात्मिक ग्रंथों का अध्ययन करना समझते हैं। लेकिन उसका वास्तविक उद्देश्य यह है कि अपनी सब चीजों को अलग करके अपने को पहचानना अपनी परीक्षा करना। उसकी मदद में कोई ग्रंथ लिया जा सकता है। लेकिन हम अपने को परख रहे हैं, अपनी स्टडी कर रहे हैं, अपनी भावनाएँ आदि को देख रहे हैं, ऐसा होना चाहिए।

स्वाध्याय के लिए साहित्य (लिटरेचर) की किताबें न ली जायें। गणित आदि के अध्ययन को मैं आध्यात्मिक ही मानता हूँ। जिनमें अपनी व्यक्तिगत वासना भावना आदि दखल ही नहीं देती वे सब विषय अध्यात्म की तरह ले जाते हैं। व्यावहारिक लिटरेचर में अच्छा और बुरा दोनों होता है। मॉडर्न लिटरेचर की मैं बात ही नहीं करता लेकिन जो साहित्य आध्यात्मिक माना जाता है उसमें भी अनेक प्रकार के दोष पड़े हैं। उसमें लोगों को समझाने के लिए जो उपमा दृष्टांत आदि दिये जाते हैं, वे लोगों को गलत राह पर ले जाते हैं। जैसे कहा जाता है कि सृष्टि के मूल में दो तत्त्व हैं : एक जड़ और एक चेतन। यहाँ तक तो ठीक है लेकिन प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन। प्रकृति शब्द स्त्रीलिंगी है और पुरुष शब्द पुल्लिंगी। इसके परिणामस्वरूप स्त्री-स्वभाव प्रकृति का है, ऐसा माना जाता है। लड़कियों के नाम राधा या रुक्मिणी रखे जाते हैं। लेकिन आपने कभी नहीं सुना होगा कि किसी लड़की का नाम कृष्ण रखा गया। कृष्ण नाम पुरुषों ने अपना लिया है। वस्तुतः में कृष्ण याने आत्मा। तो फिर वह स्त्री का नाम क्यों नहीं हो सकता? आत्माराम याने पुरुष

तत्त्व नर और नारी दोनों में होता है और प्रकृति तत्त्व भी दोनों में होता है। लेकिन उन दोनों का डेढ़कर भिन्न-शक्ति की कल्पना की गयी और यह समझ पचाते-पचाते यह माना गया कि स्त्रियाँ ज्यादातर इस दुनिया की तरफ खींचती हैं, क्योंकि उनमें प्रकृति-तत्त्व है और पुरुष उस दुनिया की तरफ झुकते हैं, क्योंकि उनमें पुरुष तत्त्व है। यह बहुत ही गलत विचार है कि पुरुषों में पुरुष-तत्त्व ज्यादा है और स्त्रियों में प्रकृति-तत्त्व ज्यादा है। दोनों में दोनों तत्त्व समान हैं। लेकिन समाज में पड़कर चाहे शंकराचार्य हो, ज्ञानदेव हो या श्री अरविन्द तीनों ने यह बात कही है। मैंने तीन जमाने के तीन नाम लिये हैं, जिन्होंने समाज के परम मंगल विचार किया है। जो नर-नारी भेद समाज में है, वही ब्रह्म में है, यह मानकर ये लोग पुरुष विभाग को तटस्थ रहनेवाला और स्त्री-विभाग को काम करनेवाला मानते हैं। यह सब गलत राह पर ले जानेवाली बातें हैं। इसलिए जहाँ साहित्यिक भेद रहता है, ऐसी आध्यात्मिक पोथियों में भी यह असर बहुत होता है। ऐसी पोथियों में कभी कुछ नहीं मिलता और कभी सत्य भी मिल सकता है, इसका ख्याल रखना चाहिए।

द्विरभ्यासी

स्वाध्याय व्यक्तिगत भी हो सकता है लेकिन सबसे अच्छी बात तो यह है कि दो इकट्ठे हों। शास्त्रों में कहा गया है: 'एकवासी द्विरभ्यासी त्रिप्रवासी।'— तपस्या के लिए अकेले रहना चाहिए। दूसरे के साथ रहने से सहूलियत मिलती है, तप नहीं होता। लेकिन अभ्यास के लिए दो व्यक्तियों को साथ रहना चाहिए। परस्पर चर्चा से विचार शुद्ध बनता है। प्रवास के लिए तीन व्यक्ति साथ हों तो उत्तम है।" व्याख्यान-यात्रा के लिए चार व्यक्ति चाहिए। गीता में कहा है: 'परस्परं भावयन्तः'। दो इकट्ठा होकर अभ्यास करते हैं, तो खास अभ्यास होता है। अकेले बैठकर अभ्यास करने से चिन्तन का अभ्यास होता है और समूह में अभ्यास करने से

भावना पैदा होती है, उत्साह मिलता है। सामूहिक अध्ययन उत्साहप्रधान होता है। व्यक्तिगत अध्ययन चिंतन-प्रधान, एकांत-प्रधान होता है। इसलिए ग्रंथों के अध्ययन में दो इकट्ठा होते हैं, तो स्फूर्ति होती है।

एक घण्टा नित्य स्वाध्याय

स्वाध्याय के लिए दिनभर में एक घंटे से ज्यादा समय की जरूरत नहीं है। एक घंटे से ज्यादा स्वाध्याय हम करनेवाले तो भ्रांत लोग होते हैं। उन्हें यह भ्रम है कि हम अभ्यास करते हैं। लेकिन वे करते-करते हैं नहीं। सामान्य कार्यकर्ता के लिए एक घंटे से ज्यादा स्वाध्याय की आवश्यकता नहीं है। स्वाध्याय के लिए समय जरूर निकालना चाहिए। पदयात्रा में समय कैसे निकाला जा सकता है, यह हमने उड़ीसा में बताया। वहाँ पर सब कार्यकर्ताओं के साथ रास्ते में किसी अच्छे स्थान में बैठकर उड़ीसा के उड़िया भागवत के एकादश स्कंध का अध्ययन पूरा किया। हमारे कार्यकर्ता अध्ययन के लिए ऐसा एक घण्टा निकालें, जब निद्रा का असर न हो। मानो वह कर्मयोग के आरंभ का समय हो या बीच का समय हो। ऐसे समय में तमोगुण का असर नहीं रहता और रजोगुण का आरंभ ही नहीं हुआ होता। इसलिए सत्त्वगुण को मौका मिलता है। बड़े सबेरे या दोपहर में जब चित्त स्वाध्याय को ग्रहण करता है, अध्ययन करना चाहिए। इसके अलावा साल भर में एक माह कार्यकर्ताओं को काम से निवृत्त होना चाहिए, फिर चाहे वे पदयात्रा ही करते हों। उनके लिए हमारी मिसाल लागू नहीं होगी। हमारे लिए उस तरह समय निकालना जरूरी नहीं है। लेकिन उनके लिए जरूरी है कि साल में एक माह अपना काम छोड़कर कहीं बाहर जायँ, किसी आश्रम या सत्संगति का लाभ उठाकर अध्ययन करें। वे ऐसे स्थान में जाकर अध्ययन न करें जहाँ पर ऐसा वातावरण हो कि कार्यकर्ता निवृत्तिनिष्ठ बने। इस देश में यह बड़ा खतरा है कि कार्यकर्ता को निवृत्तिनिष्ठ बनाकर उसे बेकार बना

दोनों की जरूरत होती है। वैसे ही मनुष्य के चित्त में एक 'बुद्धि' है और दूसरी 'धृति' धारणा शक्ति, अपने को रोकने की शक्ति। मराठी में कहावत है "कळते पण वळत नाहीं। गुजराती में कहा "समज्यां पण गुण्यां नथी। हिन्दी में कहा जा सकता है कि "पढ़े, लेकिन गुने नहीं। समझने के बाद समझा हुआ विचार इंद्रियों का विषय बनाने के लिए थोड़ा नियंत्रण करना पड़ता है। वह माता-पिता या गुरु का हो सकता है। अपना खुद का नियंत्रण हो तो बहुत अच्छा होगा। जिसकी बुद्धि को एक विचार जँच गया तो उसके आगे उस पर अमल करने के लिए और कुछ करना ही नहीं है। अमल हो ही जाता है। अगर समझ में न आवे, तो अमल नहीं होता। समझ में आने पर बीच में दूसरी ताकतें बाधा नहीं पहुँचतीं। इनको साक्ष्य (ज्ञानी) कहते हैं। कुछ लोगों की बो निष्ठा होती है वह पक्की होती है। उनका कन्वीक्शन ज्ञान से होता है। उन्होंने विचार ग्रहण किया तो पक्का ही होता है।

कुछ लोगों को प्रयोग से विश्वास होता है। दस पाँच त्रिकोण लेकर नापा जाय और फिर तय किया जाय कि तीन कोण का जोड़ १८० होगा इस त्रिकोण पर भी ग्यारहवें में कुछ दूसरा निकल सकता है। इस तरह प्रयोग में कुछ संशय रहता है। इसलिए पक्का तभी होगा जब ज्ञान से ग्रहण होगा। एक मतर्कडोशनस दैंगल लेकर उसमें यह बात सिद्ध कर दी गयी तो सब त्रिकोणों में सिद्ध हुई। लेकिन कुछ लोगों का मन ऐसा होता है कि उन्हें प्रयोग की जरूरत रहती है। इस तरह समझने के बाद अमल में लाने के लिए दूसरे की जरूरत रहती है।

बुद्धि और श्रद्धा के क्षेत्र

हमारे देश में माना गया था कि विद्यास्नातक और व्रतस्नातक दोनों होना चाहिए। किसीकी बुद्धि प्रखर है और उसने उस काम में विद्या पूरी की तो उसे विद्यास्नातक का सर्टीफिकेट दिया जाता था।

किसीने बारह साल तक व्रत का पालन किया लेकिन शिक्षा पूरी नहीं की तो उसे व्रतस्नातक का सर्टीफिकेट दिया जाता था। जो दोनों पूरा करता वह उभयस्नातक कहलाता था। अन्डरस्टैंडिंग का (समझ का) महत्त्व माना हुआ है। जब विज्ञान जोरों से बढ़ रहा है, तो बुद्धि काम करेगी ही। जहाँ बुद्धि का काम है वहाँ बुद्धि चलनी चाहिए। लेकिन जहाँ बुद्धि टूटती है वहाँ श्रद्धा की जरूरत है। जहाँ बुद्धि चलती है, वहाँ श्रद्धा को रखना गलत है। आँख के क्षेत्र में कान को पूछना और कान के क्षेत्र में आँख को पूछना गलत है। ध्वनि कैसी है, यह कान बतायेगा। उसमें आँख अंदाजा नहीं लगा सकती। वैसे ही बुद्धि के और श्रद्धा के अलग-अलग विषय हैं। बुद्धि के विषय में श्रद्धा आती है, तो गलत है। श्रद्धा के विषय में बुद्धि आ ही नहीं सकती वह टूट जाती है। वह आने की कोशिश करे, तो भी वहाँ पर ऐसी कैंची है कि वह टूटेगी। •

यहाँ अपनी वृत्ति गुण-प्रधान है। काम को तो मुझे छोड़ दिया ही नहीं। मैं मनुष्य रखता हूँ और उसे काम देता हूँ। उसकी वृत्ति देखकर उसमें परिवर्तन करता हूँ। सवाल यही है कि क्या हमें दुनिया में कोई काम करना है? जहाँ तक मेरा वास्ता है मुझे कुछ भी नहीं करना है। फिर भी काम होते ही हैं। वे तीन तरह से होते हैं

१ कोई मनुष्य आता है तो उसके लिए काम खड़ा करते हैं।
२ कुछ गुरु की प्रेरणा से होते हैं।
३ कुछ अन्य सज्जनों की प्रेरणा से होते हैं।

मंजिल के दो मार्ग

हां अलग अलग रास्तों से एक ही मुकाम पर पहुँचना है। कर्मप्रधान और वृत्तिप्रधान ये अलग अलग 'एप्रोचेज़' हैं। जेल में चर्चा चलती थी तो एक सवाल आता था कि पाप का प्रतीकार करना है और अहिंसा से करना है। ये दोनों बातें तय हैं। लेकिन किसी कारण से अहिंसा से प्रतीकार न हो सके तो क्या हिंसा से प्रतीकार किया जाय या अहिंसा से अप्रतीकार हो? ये दो 'एप्रोचेज़' हैं। लेकिन कठिन मौके पर दो एप्रोचवाले बिल्कुल दो विरुद्ध बाजू चले जाते हैं।

व्यक्ति की प्रेरणा का स्थान

एक प्रश्न हर जगह किसी न किसी रूप में आता ही है कि कोई काम बनता है तो किसी व्यक्तिविशेष की प्रेरणा से बनता है। गांधीजी का काम भी ऐसा ही बना। हमारे सामने उसकी बहुत बड़ी मिसाल है। उनसे आकृष्ट होकर उनके एक एक पहलू से आकृष्ट होकर अनेक लोग आये जो उनके अभाव में एकत्र न होते। बिल्कुल भिन्न भिन्न प्रकृति के लोग थे। गांधीजी में संयोजन की एक शक्ति थी जिसने उन सबसे कुछ न कुछ काम लिया। उनके अभाव में वह सब शक्ति बिखर गयी। वह नहीं दिखती। अभी तक उसका कुछ अंश टिका रहा

है। जैसे इसममीह के बाद भी हुआ। वह तो बहुत बड़ी मिसाल है। वह महत्त्व मेरे लिए लागू नहीं होता। इसलिए कि उनमें जो असामान्य और विविध शक्तियाँ थीं उतनी हममें नहीं है। इसलिए अनेक विरोधी लोगों को एकत्र करने में वे सफल हुए। मैं अपने साथ ऐसा होना बहुत कम संभव मानता हूँ।

आश्रम में आने की प्रेरणा अन्योन्यप्रेम की प्रेरणा हो सके ही आरम्भ में व्यक्ति का आकर्षण रहा हो, लेकिन एकत्र आने के बाद सह विचार (एक ही विचार से नहीं कहता लेकिन समान विचार) हो और उसके सब अनुकूल हों। इसकी बहुत जरूरत है। इसे ध्यान में रखकर ही मैं कार्य कर रहा है। आप देखते हैं कि बहुत पक्ष के अभाव ही मैं नहीं रहा। यह दोष माना जायगा। लेकिन मेरी पद्धति में यह गुण है। इसमें लोग स्वतंत्र विचार करते हैं। एक कोने में पड़ा रहता हूँ, इसलिए दूसरों को मौका मिलता है। यह पद यात्रा का तरीका ही ऐसा है, जिसमें कि स्वतंत्र बुद्धि को प्रेरणा मिलती है। वह प्रेरणा मिलनी चाहिए, ऐसी भाषा न पदयात्रा नहीं करनी चाहिए, न मैं करता हूँ। लेकिन यह एक आध्यात्मिक तरीका है, यह सोचकर पदयात्रा करनी चाहिए और करता हूँ। इन दिनों तो मैंने सम्मेलन में जाना भी छोड़ा। कसम तो नहीं खायी है। लेकिन दो तीन साल से नहीं जा रहा हूँ। यह एक विशेष बात है और इतिहास में पहली ही बात है कि जिसने देशव्यापी काम हाथ में लिया है, वह इस तरह सम्मेलन में जाने का टालता है। आप गांधीजी के बिना कांग्रेस की कल्पना नहीं करते थे। आज भी ऐसी संस्थाएँ हैं, जिनके मुखिया गैरहाजिर रहेंगे, तो काम नहीं बनेगा। एक आन्दोलन पाँच सात साल चला। उसके लिए जो योजना बनायी थी जो भूदान-समितियाँ बनायी थीं वह सबकी सब एक प्रस्ताव के साथ योजनापूर्वक तोड़ डाली गयीं। शायद ही कोई संगठन ऐसा करता होगा। वह तो ऐसा ही चाहता है कि संगठन मजबूत हो।

मेरी अपनी वृत्ति गुण प्रधान है। काम की तो मुझे कोई चिंता ही नहीं। मैं मनुष्य देखता हूँ और उसे काम देता हूँ। उसकी वृत्ति देखकर उसमें परिवर्तन करता हूँ। सवाल यही है कि क्या हमें दुनिया में कोई काम करना है? जहाँ तक मेरा ताल्लुक है मुझे कुछ भी नहीं करना है। फिर भी काम होते ही हैं। वे तीन तरह से होते हैं:

१. कोई मनुष्य आता है तो उसके लिए काम खड़ा करते हैं।
२. कुछ गुरु की प्रेरणा से होते हैं।
३. कुछ अन्य सज्जनों की प्रेरणा से होते हैं।

मंज़िल के दो मार्ग

दो अलग अलग रास्तों से एक ही मुकाम पर पहुँचना है। कर्मप्रधान और वृत्ति प्रधान ये अलग अलग 'एप्रोचेज़' हैं। जेल में चर्चा चलती थी तो एक सवाल आता था कि पाप का प्रतीकार करना है और अहिंसा से करना है। ये दोनों बातें तय हैं। लेकिन किसी कारण से अहिंसा से प्रतीकार न हो सके तो क्या हिंसा से प्रतीकार किया जाय या अहिंसा से अप्रतीकार हो? ये दो 'एप्रोचेज़' हैं। लेकिन कठिन मौके पर दो एप्रोचवाले बिल्कुल दो विरुद्ध बाजू चले जाते हैं।

व्यक्ति की प्रेरणा का स्थान

एक प्रश्न हर जगह किसी न किसी रूप में आता ही है कि कोई काम बनता है, तो किसी व्यक्तिविशेष की प्रेरणा से बनता है। गांधीजी का काम भी ऐसा ही बना। हमारे सामने उनकी बहुत बड़ी मिसाल है। उनसे आकृष्ट होकर, उनके एक एक पहलू से आकृष्ट होकर अनेक लोग आये जो उनके अभाव में एकत्र न होते। बिल्कुल भिन्न भिन्न प्रकृति के लोग थे। गांधीजी में संयोजन की एक शक्ति थी जिससे उन सबसे उन्होंने कुछ न कुछ काम लिया। उनके अभाव में वह सब शक्ति बिखर जाती। वह नहीं बिखरी। अभी तक उसका कुछ अंश स्थिर रहा

है। जैसे इस्लामपुर के बाद भी हुआ। यह तो बहुत बड़ी मिसाल है। वह मकसद मेरे लिए लागू नहीं होता। इसलिए कि उनमें जो असामान्य और विविध शक्तियाँ थीं उतनी इसमें नहीं हैं। इसलिए अनेक विरोधी लोगों को एकत्र करने में वे सफल हुए। मैं अपने साथ ऐसा होना बहुत कम संभव मानता हूँ।

आश्रम में आने की प्रेरणा अन्योन्यप्रेम की प्रेरणा हो, भले ही आरम्भ में व्यक्ति का आकर्षण रहा हो, लेकिन एकत्र आने के बाद सद्विचार (एक ही विचार में नहीं कहता लेकिन समान विचार) हो और उसमें सब अनुकूल हों। इसकी बहुत जरूरत है। इसे ध्यान में रखकर ही मेरा कार्य चल रहा है। आप देखते हैं कि बहुत वर्षों के बजाय ही मैं नहीं रहा। यह दोष माना जायगा। लेकिन मेरी पद्धति में यह गुण है। इसका लोग स्वतंत्र विचार करते हैं। एक कोने में पड़ा रहता हूँ इसलिए दूसरों को मौका मिलता है। यह पद-यात्रा का तरीका ही ऐसा है, जिससे कि स्वतंत्र बुद्धि को प्रेरणा मिलती है। यह प्रेरणा मिलनी चाहिए, ऐसी आशा से पदयात्रा नहीं करनी चाहिए, न मैं करता हूँ। लेकिन यह एक आध्यात्मिक तरीका है, यह सोचकर पदयात्रा करनी चाहिए और करता हूँ। इन दिनों तो मैंने सम्मेलन में जाना भी छोड़ा। फक्त तो नहीं आयी है। लेकिन दो-तीन साल से नहीं जा रहा हूँ। यह एक विशेष बात है और इतिहास में पहली ही बात है कि जिसने देशव्यापी काम हाथ में लिया है वह इस तरह सम्मेलन में जाने को टालता है। आप गांधीजी के बिना कांग्रेस की कल्पना नहीं करते थे। आज भी ऐसी संस्थाएँ हैं जिनके मुखिया मैं हाजिर रहेंगे तो काम नहीं बनेगा। एक आश्रोलन पाँच-सात साल चला। उसके लिए जो योजना बनायी थी जो भूदान-समितियाँ बनायी थीं यह सबकी सब एक प्रस्ताव के साथ योजनापूर्वक तोड़ डाली गयी। शायद ही कोई संगठन ऐसा करता होगा। वह तो ऐसा ही चाहता है कि संगठन मजबूत हो।

यह मिसाल मैंने इसलिए दी कि मेरी प्रकृति वृत्ति और प्रवृत्ति दोनों व्यक्ति-निरपेक्ष कार्य चले इसलिए ज्यादा से ज्यादा अनुकूल है। जिसने काम ही नहीं उठाया उसकी बात अलग है। लेकिन जिन्होंने काम उठाया है, उनमें ऐसी मिसाल दीख नहीं रही जहाँ इतनी व्यक्ति-निरपेक्षता रखी गयी हो। हर हालत में यह जरूरी है कि अपने सब काम आन्दोलन के भी और आश्रमों के भी व्यक्ति-निरपेक्ष हों। व्यक्ति-निरपेक्ष विचार की प्राप्ति हो यह कम संभव है। मैं सोचता हूँ तो लगता है कि बापू न होते, तो केवल विचार के आकर्षण से कितने लोग आते? हम सब ऐतिहासिक प्रवाह में आये हैं।

केवल व्यक्तिगत प्रेम काम नहीं देगा

यह एक भ्रम है कि किसी विशेष पुरुष की प्रेरणा से आते हैं, तो आपस में नहीं बनती। सत्पुरुषों के साथ रहते हुए भी नहीं बनती। इतिहास में इसके अनेक उदाहरण हैं। गुरु नानक के शिष्यों में दो विभाग हुए। गद्दी पर उनके शिष्य को बिठाया तो उनके पुत्र ने 'उदासी' नाम का अलग संप्रदाय खड़ा किया। शायद विचार से भी उसने ऐसा किया हो। और इस कारण से उसने बनाया ऐसा हम कहते हैं, तो उस पर अन्याय ही होता होगा लेकिन इतिहास में यह बात है। इसलिए कहते हैं कि नानक के बाद फौरन दो सम्प्रदाय हुए। आज नानक से बढ़कर पंजाब में दूसरा नाम ही नहीं है। उनकी भी यह हालत है। असम में शंकरदेव सबसे श्रेष्ठ पुरुष हुए। लेकिन उनके पीछे भी दो संप्रदाय हुए। चैतन्य-सम्प्रदाय में भी यही हुआ। जब चैतन्य जगन्नाथ में रहने लगे, तब वहाँ प्रतापरुद्र से उनकी मित्रता हुई और वे उनको मान देने लगे। उनके साथ रहे हुए शिष्य को लगा कि यह क्या बात है! नया मनुष्य आया और सिर पर चढ़ने लगा। चैतन्य महाप्रभु प्रेम-मूर्ति ही थे। भगवान् कृष्ण के बाद भारत में उन्हीं का नाम चलता है। उनके साथ रहे हुए शिष्य

का क्या कि यह नया मनुष्य गुरुजी के सिर पर चढ़ने लगा यह ठीक नहीं। उसने कहा कि गुरुजी एक ही जगह पर आप क्यों रहते हैं ! जरा घूमिये। चैतन्य ने कहा मैं तो बहुत घूम चुका हूँ। तुम्हारा घूमना बाकी है इसलिए तुम जाओ। उनके शिष्य निकले। वृन्दावन गये। वहाँ उन्होंने स्वतंत्र संप्रदाय बनाया। मुहम्मद पैगंबर के बाद भी उनकी परंपरा के लोग रसूलपंथी और दूसरे शिष्यों में झगड़ा हुआ। उसका आर महेसाहबा एसे दो संप्रदाय हुए। महेसाहबा याने साथी की स्तुति आर उसका याने साथी की निन्दा। एक ही दिन स्तुति और निन्दा याने का कार्यक्रम होता है। इन दोनों में लड़ाइयाँ भी हुई ऐसा इतिहास कहता है। ईसा के साथ एक शिष्य था जिसने तीन बार इनकार किया। जेम्स और जॉन ये दो शिष्य थे। उन्होंने कहा कि आप जब स्वर्ग में जायेंगे तब आपके दाहिने और बायें हम रहेंगे। उन्होंने ऐसी प्रार्थना की तब ईसा ने कहा स्वर्ग में तो ईश्वर के हाथ की बात होगी। वहाँ मैं क्या करूँगा। इसलिए उनके शिष्यों में मत्सर पैदा हुआ। उसने जिन्दगीभर उपदेश दिया कि पड़ोसी पर प्यार करो फिर कहा दुश्मन पर प्यार करो और अन्त में कहा कि आपस में प्यार करो। 'कर कम मनस्य'। अब मैं जो कह रहा हूँ, तो जरा आपस में प्यार करो।

आध्यात्मिक दृष्टि से देखिये, तो पूर्वजों का ऐसा ख्याल था कि उनका आपस में बहुत प्यार नहीं बनता है, ऐसा नहीं मानना चाहिए। बहुत जरूरी है कि अन्योन्यप्रेम बढ़े और प्रेम से इकट्ठा रहें। तभी काम बनेगा। केवल व्यक्तिगत प्रेरणा काम नहीं देगी।

तीन समा-मंदिर

यहाँ पर लोग गुरु के अनुराग से आये हैं अन्योन्य आकर्षण से आये हैं या विचार के आकर्षण से आये हैं, उस स्थान में स्नेह का अभाव क्यों होगा ? गुरु के आकर्षण से आनेवालों में अन्योन्य आकर्षण नहीं

आश्रम में स्नेह का अभाव नहीं

आश्रम के जीवन में स्नेह और हार्दिकता न होने के कारण मुग्धता और सरसता नहीं होती ऐसा भी लोग कहते हैं, लेकिन हम समझते हैं कि आश्रम से बढ़कर स्नेह और कहीं हो ही नहीं सकता। क्योंकि वहाँ जो लोग आते हैं, वे रक्त-सम्बन्ध से नहीं आते। इसलिए एक दूसरे पर हक नहीं मान सकते। वे एक दूसरे की सेवा में लग जायेंगे इसलिए वहाँ पर स्नेह की पराकाष्ठा होगी। पवनार में हमारे परिश्रमालय में बच्चे श्रम करते थे जिनके बीच मैं बैठता था। उन्हें सिखाता था तो वे चार घंटे में सोलह लटी धुनकर कातते थे। उन्हें चार-पाँच आना मिलता था जब कि उस समय दूसरों को तीन आना ही मिलता था। मैंने उन बच्चों से कहा कि तुम्हें ज्यादा मजदूरी मिलती है, तो बाजार के भाव बढ़ाओ। उस समय वहाँ पर घास की टोकरी लानेवाली को सिर्फ छह पैसा मिलता था। सिर पर बोझ लादी हुई वह बाजार में आती थी लेकिन कोई भी उसके लिए छह पैसे से ज्यादा बोलता नहीं था। हमारे बच्चों में से एक ने एक दफा कहा कि हम आठ पैसे देंगे तो सब लोगों को ताज्जुब हुआ। गाँव के लोग चिढ़ भी गये कि बच्चों ने बाजार भाव बढ़ा दिया। बच्चों ने हमसे भी कहा कि हमने बाजार भाव बढ़ा दिया। इस तरह बढ़ाते बढ़ाते छह पैसे का दस पैसे हो गया। इस प्रकार हमारे लड़के काम करते थे। यह तो मैंने सहज ही उसमें जो शिक्षण-कार्य चलता था उसका नमूना बताया।

वहाँ पर एक लड़का कुष्ठी में उठाया गया। वह बीमार हुआ तो मैंने उसे वर्धा के अस्पताल में भेजा और उसके साथ चिट्ठी भी दी। उसे स्पेशल वार्ड में रखा गया। उसकी सेवा के लिए दो सेवक भेजे। उसकी माँ भी वहीं रहती थी। उसे डायरिया हुआ तो उसके सारे गंदे कपड़े आश्रम के सेवक धोते थे। आखिर जब वह लड़का मर गया तो उसकी श्मशान विधि में मैं हाजिर रहा। मैंने वहाँ पर भगवान् दुखनाम्न

उपनिषद् का पाठ किया। गाँव के काफी लोग आये थे। उनमें उसका बाप भी था। उसकी माँ बिलख पड़ी और कहने लगी: "अनेनाथ हो गया पर आपके आश्रम के भाइयों ने उसकी जो सेवा की उतनी सेवा शायद माँ भी नहीं कर सकती है। सार यह है कि आश्रम में स्नेह का अभाव होता है इसका अनुभव हमने नहीं किया। बल्कि हमने उल्टा ही अनुभव किया। यह हो सकता है कि बोलने के तरीके अलग अलग होने के कारण कुछ लगता हो जाय। कोई मधुर बोलता है, तो कोई ऊँचा बोलता है। मैं भी सिखाते समय ऊँची आवाज में बोलता हूँ। लेकिन आश्रम में स्नेह का अभाव है यह बिल्कुल अनुभव के विरुद्ध है।

आश्रमी संवेदनशील पर अभिभूत नहीं

आश्रमों में मनुष्य की संवेदनशीलता कुछ कुंठित हो जाती है, ऐसा बताया जाता है परन्तु होना चाहिए उससे उलटा। अगर कोई योगी है तो उसका मन इतना संवेदनशील, सेन्सिटिव होना चाहिए कि हर चीज का परिणाम उस पर हो, फिर भी वह उससे चलित न हो। जिसकी संवेदनशीलता खत्म हो गयी वह योगी नहीं है। चीज को स्वाद का पता ही न चले यह योगी का लक्षण नहीं है। योगी की इंद्रियाँ स्वच्छ निर्मल होने के नाते अच्छी कार्यक्षम होंगी और चित्त तो इतना सेन्सिटिव होगा कि जैसे फोटोग्राफर हर चीज का रिकार्ड करता है। वैसे ही योगी का चित्त होगा। संवेदनक्षम होते हुए भी वह वेदना का शिकार न बनेगा। इन वेदनाओं का गलत परिणाम न निकले, यह सम्भालेगा और उनसे अभिभूत नहीं होगा। इस क्रिया द्वारा दबाकर रहने की या उस प्रकार से तो समाधान मिलेगा लेकिन वह वास्तविक समाधान नहीं होगा। हमें उनके कुशल निवारण की कोशिश करनी चाहिए। जैसे भाप को अंदर रखने से शक्ति पैदा होती है, वैसे ही वेदना को अंदर रखने से शक्ति पैदा होगी। वेदना हो ही नहीं, य

स्थितप्रज्ञ का लक्षण नहीं है। यह नहीं होता है कि स्थितप्रज्ञ मानव मात्र से वंचित हो गया। वात्सल्य प्रेम करुणा आदि उसमें कम होते हैं। एक यूरोपवाले ने गांधीजी के बारे में लिखा था कि "मैं उनके आश्रम में गया तो उन्होंने मेरे बारे में बिलकुल बारीकी से सब पूछा। वे महात्मा होते हुए भी इतने सूक्ष्म हैं, इसका आश्चर्य होता है।"

संवेदना को काबू में रखना चाहिए। इतनी शक्ति साधक में होनी चाहिए। किसीमें संवेदना आश्रम में आने के बाद कम होती जाय तो समझना चाहिए कि उस पर उलटा ही परिणाम हो रहा है, इसलिए उसे बाहर जाना चाहिए।

गुरुस्थान का महत्त्व

आपने जो सवाल पूछे हैं वे बता रहे हैं कि आश्रम में गुरु का अभाव है। संस्कृत में एक कहावत है कि 'न गृहं गृहमित्याहुः गृहिणी गृहमुच्यते।' —घर घर नहीं है, गृहिणी घर है। वैसे ही मैं कहूँगा कि आश्रम आश्रम नहीं, गुरु आश्रम है। डेमोक्रेसी में हमने गुरु को उड़ा दिया है। कहते हैं कि यह तो गुरुडम है। लेकिन हमारी श्रद्धा उस पर है। आप जो कह रहे हैं वे सारे मार्गदर्शक के अभाव के लक्षण हैं। मार्गदर्शक की जरूरत हर काम में होती है, तो फिर पारमार्थिक काम में मार्गदर्शक की जरूरत कैसे न होगी? इंद्रियों के विषय में मार्गदर्शक चाहिए, तो क्या अतीन्द्रिय के विषय में नहीं चाहिए? आत्मानुभव बिना गुरु के भी हो सकता है। विषय ज्ञान के लिए, बाह्य ज्ञान के लिए मार्गदर्शक की जरूरत है, लेकिन आत्मज्ञान के लिए उतनी जरूरत नहीं है। हर काम में अनुभवी व्यक्ति की आवश्यकता होती है। हमने रेल की पटरी बनायी और बाढ़ आयी तो पटरी उखड़ गयी। फिर वर्षों पर विशेषज्ञ की जरूरत पड़ती है। इसीलिए अपने देश में बाहर से विशेषज्ञ आते हैं। विषय ज्ञान के लिए गुरु अनिवार्य है, आत्मज्ञान के लिए गुरु अनिवार्य नहीं है। लेकिन गुरु के बिना काम

अवस्था में मानकर पहले से ही गुरु को फेंक देना ठीक नहीं है। इसलिए गुरु मार्गदर्शक आवश्यक होता है।

आश्रमी अन अन्योन्य शिक्षक

मैं एकतरफा शिक्षक का नाता पसंद नहीं करता। मैं किसीको शिक्षा दे रहा हूँ यह विचार मुझे जँचता नहीं है बल्कि शिक्षक और विद्यार्थी अन्योन्य शिक्षक होते हैं। अन्योन्य मित्र एक दूसरे के मित्र होते हैं। भाई एक-दूसरे के भाई होते हैं। वैसे ही शिक्षक और विद्यार्थी एक दूसरे के शिक्षक होते हैं।

आश्रम सांस्कृतिक स्थान

आश्रमी जीवन जीना क्या स्वाभाविकता के विरुद्ध नहीं है, ऐसा प्रश्न पूछा जाता है। मैं हमेशा स्वभाव शब्द को टालता हूँ। क्योंकि उसका अर्थ गहरा है। उसके बजाय प्रकृति शब्द कहना अच्छा है। मनुष्य प्राकृतिक जीव करता है, तो प्राणी की कोटि में आ जाता है। भूख लगने पर खाना नींद आने पर सो जाना प्रकृति है। लेकिन भूख लगने पर भी अतिथि को खिलाकर बचा हुआ खाना संस्कृति है। दूसरों के घर का छीनकर खाना विकृति है। क्या आपको प्राकृतिक जीवन में समाधान है ? क्या आप सांस्कृतिक जीवन नहीं चाहते ? हमारे समाज में आज इतनी विकृतियाँ दाखिल हुई हैं कि उन्हें हटाना होगा और प्रकृति से ऊपर उठकर संस्कृति के स्तर पर जाना होगा। आश्रमों में यह सांस्कृतिक कार्य भी होता है। प्राकृतिक कार्य के लिए समाज है। सांस्कृतिक कार्य के लिए आश्रम है। वह मार्गदर्शन का स्थान है। इसलिए वहाँ का जीवन प्रकृति से कुछ ऊपर उठा हुआ सांस्कृतिक जीवन होगा।

आश्रम-जीवन आनन्दमय हो सुखमय नहीं

आज आश्रमवासियों का सुरक्षित और सुखी जीवन औरों के लिए

है, फिर भी वह दूसरों से ऊँचा होता है, इसलिए वह दीखेगा कि आश्रम के जीवन में सहस्थित है।

आश्रम-जीवन आदरणीय और अनुकरणीय हो

आश्रमों का कुल जीवन आदर्श होना चाहिए। स्थितप्रज्ञ के बारे में पूछा गया है कि 'किं प्रभाषेत' 'आसीत व्रजेत किम्'—वह कैसे बोलता है कैसे बैठता है। याने उसका सब कुछ आदर्श माना गया है। वैसे ही हमारे आश्रमों का कार्यक्रम एक आदर्श कार्यक्रम बने, जिससे कुछ दुनिया जान सके। कोई पूछे कि हमारा कार्यक्रम क्या हो तो यही जवाब मिलना चाहिए कि आश्रम में जाकर देखो। कैसे बोलना कैसे बैठना कब सोना कब उठना क्या खाना यह सब आश्रम में जाकर देखो और वैसा करो तो सब प्रकार से भव्य होगा। ऐसा हमारे लिए कहा जाना चाहिए। इसीको सेन्स ऑफ सोशल रिस्पान्सिबिलिटी कहते हैं। हम समाज के लिए जिम्मेवार हैं, तो हमारा कार्यक्रम ऐसा बने, जिसका अनुकरण पूरी दुनिया करे और उसका भव्य हो। हमारे कार्यक्रम में कोई दोष न हो। ऐसे निर्दोष जीवन का आदर्श हम रखें। यह नहीं कि लोग कहें, यह तो आश्रमवाले हैं, इनका सब अच्छा ही रहता है। इनके सूक्ष्म जीवन का इनकी हस्तियों का हम अनुकरण नहीं कर सकते इनका जीवन आदरणीय है। लेकिन अनुकरणीय नहीं है ऐसा समाज को महसूस नहीं होना चाहिए। बल्कि वह जीवन अनुकरणीय भी है, ऐसा लगना चाहिए।

अनासक्ति प्रेम की पराकाष्ठा

कहीं कहीं अनासक्ति की आड़ में उदासीनता आती है। ऐसे शब्द में खतरा रहता है। अनासक्ति निगेटिव शब्द है। निगेटिव शब्द में गुण भी होता है और दोष भी। प्रेम पॉजिटिव शब्द है। इसमें भी गुण है और विकृति का डर है। प्रत्येक शब्द के साथ गुण दोष लगे रहते हैं। अनासक्ति में थोड़ा वैराग्य का भान होता है। उदासीनता, मैकेनिकलनेस

जाते हैं, वे अन्दर अन्दर कलह करते हैं।" मांसाहार-परित्याग पर अपने देश की छाप लगाई है। हमारे मन में मांसाहार करनेवाले के प्रति धार घृणा नहीं है। मांसाहार करनेवाला कोई अच्छा मनुष्य नहीं होगा, एवं हम नहीं मानते। वह महात्मा होगा, सत्पुरुष होगा, लेकिन अपूर्णार्थ होगा। ये हमारे विचार हैं। हमारे विचार में भी संकुचितता हो सकती है। लेकिन मैं उसके लिए तैयार नहीं हूँ। मैं नहीं मानता कि उसके कारण कोई आश्रम में नहीं आता। सब सज्जन हमारे आश्रम में आयें, ऐसा आग्रह क्या होना चाहिए? कुछ सज्जनों को बाहर रहने का भी मौका रहना चाहिए। दुनियाभर के सब सज्जन आपके आश्रम में बैठ हो जायें यह अच्छी नहीं है। इस बारे में हमारे विचार स्पष्ट हैं।

त्रिविध आर्थिक आधार

आश्रम के तीन आधार हैं: आत्माधार (शरीर-परिश्रम का आधार नहीं) सज्जनाधार और सर्वजनाधार। अपना आधार, स्वयमेव अपना आधार, यही आत्माधार है। दूसरा सज्जनाधार, जो स्वयं ही स्पष्ट है, विद्वान् लोग हैं, सज्जन हैं उनका आधार। तीसरा है सर्वजनाधार। जहाँ सर्वजन की बात आती है, वहाँ चीज अच्छी बनती है। उसमें भले बुरे सब आते हैं। ये देतेदिलाते बनती है, पवित्र चीज होती है। जनाधार से चलनेवाली संस्थाओं से मदद लेने में दोष नहीं है, सिवा इसके कि यह देखा जाय कि अनुचित विधि से आधार लेने में विकास कुंठित न हो।

आश्रम-दिनचर्या

दिनचर्या की मुख्य कसौटी यह होनी चाहिए कि मनुष्य को भगवान् ने जो शक्तियाँ दी हैं—इंद्रिय, मन, बुद्धि आदि, उन सबको ठीक काम मिले और उन सबका ठीक विकास हो, ऐसा कार्यक्रम बनाया जाय। भगवान ने जो हमें चौबीस घंटे दिये हैं, उनमें से बारह घंटे निद्रा तथा दैहिक कृत्य के लिए निकाल देने चाहिए, बाकी बारह में से दो घंटे पैदा करें,

जब मनुष्य अपनी इच्छा से काम करे। उतना समय वह क्या भी लगता है या अपना बचा हुआ काम उसमें पूरा भी कर सकता है। बाकी बचे हुए दस घंटे मनुष्य को काम के लिए मिलते हैं, यह बात हमने अभी सीखी है। पहले हम मानते थे कि चौदह घंटे काम के हैं और बचे हुए दस घंटे में सात घंटे नींद और तीन घंटे दैनिक कृत्य हों। मध्यमार्ग तो पंथ हम नहीं छोड़ते थे। चौदह घंटा काम हुआ, तो सौ प्रतिशत क्या लिया। दो कार्यक्रमों के बीच में बिल्कुल समय न जाय इस तरह खूब सोचा और कोशिश की। बाद में हम तेरह घंटे पर आये। इस तरह हम ऐसे सब कार्यक्रमों में से गुजरे हैं। हमें अनुभव हुआ कि कुछ मनुष्यों में चौदह घंटे काम करने की शक्ति होती है। हरएक में नहीं होती। अभी हम इस नतीजे पर आये हैं कि दस घंटे का कार्यक्रम हो। उसमें से पाँच घंटे शारीरिक श्रम के लिए और पाँच घंटे बौद्धिक के लिए हों तो कार्यक्रम सन्तोषजनक होगा। परन्तु यह न हो सके तो छः घंटे शारीरिक कार्यक्रम और चार घंटे बौद्धिक कार्यक्रम किया जा सकता है। उसमें समत्व रहना चाहिए और उसमें आर्थिक समस्या भी हल होनी चाहिए।

आश्रम और समाज

समाज के सन्दर्भ में सोचें

हम जो भी बनना चाहते हैं, समाज के लिए बनना चाहते हैं। समाज से अलग रहकर हमें कोई सिद्धि प्राप्त करनी है, यह वासना छोड़नी चाहिए। यह वासना छूटनेवाली नहीं है। बचपन से हम समाज का उपकार लेते हैं, आज भी ले रहे हैं, तो हमें समाज के संदर्भ में ही सोचना चाहिए। कुछ लोग सोचते हैं कि दस-बीस साल तक समाज से अलग रहकर सिद्धि प्राप्त करके फिर हम समाज की सेवा करेंगे, उनके इस विचार को मैं ठीक नहीं समझता। वैसे एक-दो महीने के लिए हम अलग रह सकते हैं, जैसे कोई बीमार हवा-खोरी के लिए कहीं जाता है और आराम करता है। दस-बीस साल में कोई निष्पत्ति होती है, ऐसा समाज का अनुभव नहीं है।

जीवन में त्रिविध सम्पर्क

जीवन में तीन प्रकार का संपर्क होता है। एक होता है व्यक्तियों के साथ जिसे हम अन्योन्य संपर्क नाम दे सकते हैं, दूसरा होता है व्यापक समाज के साथ और तीसरा सृष्टि के साथ। इन त्रिविध संपर्कों का समावेश आन्तरिक दृष्टि से ईश्वर के साथ होता है। इसलिए उसका अलग नाम नहीं रखते हैं। उसमें तीनों आते हैं। उसका एक अलग नाम देने से चौथा हिस्सा हो जायगा इसलिए उसकी हम इसके साथ गिनती नहीं करते।

द्विविध सृष्टि-सम्पर्क

सृष्टि सम्पर्क दो प्रकार का होता है सेवात्मक और ध्यानात्मक। सेवा

दो रूप से होती है। एक प्रसन्न सेवा जिसमें उत्पादन बढ़ाने इत्यादि के काम होते हैं, दूसरा है स्वच्छता रखना। परमेश्वर ने सृष्टि जितनी रमणीय निर्माण की उससे कम रमणीय न हो। हो सकता है कि कभी अधिक ही रमणीय हम उसे करें तो वे दोनों मिलकर एक अंग हो गये। दूसरा होता है ध्यान। आसपास की ही सृष्टि जिसमें पहाड़-पेड़ हैं और नदियाँ भी शामिल हैं, हमारे लिए ध्यान का विषय है। उनका ध्यान हो सकता है। अनेक गुणों का ध्यान करने के लिए उसका उपयोग होता है। यही है विभूति-चिन्तन। उसके चिन्तन से, ध्यान से चित्त का अनेक गुणों का स्पर्श होता है। इन सबकी तरफ ध्यान की दृष्टि से देखना चाहिए। ऐसे ध्यान की जिनको आदत होती है, उसे सृष्टि में प्रभु-दर्शन होता है।

अन्योन्य सम्पर्क

अन्योन्य सम्पर्क भी अनेक प्रकार का होता है। एक है अन्तर अनुराग और विश्वास। सबके लिए पूर्णतया विश्वास। साथियों में एक-दूसरे के लिए पूरा विश्वास। इस विश्वास से ही आन्तरिक सम्बन्ध बनता है। बाह्य सम्बन्ध आता है, एक-दूसरे की सेवा करने में। सेवा की जरूरत पड़ती है, तब सम्बन्ध आता है। दूसरा सम्बन्ध आता है कि एक अपना समूह है और वह समूह मिलकर कोई एक सम्मिलित काम करता है। चाहे आश्रम चाहे वह घर का हो चाहे समाज का लेकिन सब मिलकर एक सामूहिक काम करते हों, उनमें अन्योन्य सम्पर्क आता है। इस तरह से अन्योन्य सेवा और सामूहिक काम मिलकर बाह्य सम्पर्क होता है।

समाज-सम्पर्क

तीसरा है समाज-सम्पर्क। एक नजदीक के समाज के साथ सम्पर्क दूसरा संपूर्ण समाज के साथ याने विश्व के साथ। नजदीक के समाज के साथ जो सम्पर्क होता है, उसमें यह होना चाहिए कि हम उनके काम में

आते हैं, जब किसी तरह जरूरत पड़ती है तब विश्वासपूर्वक हम मदद माँग सकते हैं और वे दे भी सकते हैं। उनका ऐसा विश्वास होना चाहिए कि इनके हाथ में जो शक्ति है उससे पूरी सेवा हमें मिलेगी ही। काम की चोरी नहीं होगी। साधारणतया अपने विचार के अनुकूल ही हम काम करेंगे। जोर इससे कहें कि हम अपने खेत की हरी फसल बढ़ाना चाहते हैं, तो रात में हमारी मदद में आइये, तो ऐसा काम हम नहीं करेंगे—उसमें ही हमारे हाथ से सेवा ज्यादा न हो। फिर भी लोगों को विश्वास होना चाहिए कि जरूरत पड़ने पर ये काम आयेंगे। विश्व-समाज के साथ सम्पर्क हो जाने समग्र-विश्व के साथ संपर्क हो। हमारा चिन्तन विश्व के लिए हो। दुनिया में जो हलचल चलती है, उसका ज्ञान हो और हम सबकी भलाई के लिए काम कर रहे हैं, इसका भान हो। सारी जानकारी हमें रखनी चाहिए। यह न हो कि बाहर क्या चल रहा है उसके बारे में जानने में उदासीनता हो। उदासीनता यह शब्द मैं उपेक्षा के अर्थ में प्रयुक्त कर रहा हूँ।

आश्रमों का परस्पर सम्पर्क

आश्रमों से भिन्न भिन्न कामों की अपेक्षा रखी गयी है। परस्पर विचार-विनिमय की भी अपेक्षा है। कोई एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाय तो भाई बिनो के लिए न जाय। कम-से-कम चार महीने के लिए जाय। हमारा वहाँ की अनुभूति और अन्योन्य सम्पर्क बढ़ेगा। जरूरत पड़ने पर हम एक-दूसरे के काम के लिए चलते दौड़े जा सकते हैं, ऐसा विश्वास होना चाहिए। इस तरह हमारा अन्योन्य सम्पर्क रहे। भारतव्यापी सम्पर्क और विश्व के साथ भी सम्पर्क रहे। विश्व के साथ विचारों का अनुबन्ध रहना चाहिए। उनकी हलचलों का ज्ञान हमें होना चाहिए। विश्व हमारा है और हम विश्व के हैं। आश्रमों में भिन्न भिन्न कामों की अपेक्षा रख रहा ... इस एक चीज का निर्माण हो सकता है। आश्रम

जिस तरह काम रहे हैं, यह सब हम देखें। एक-दूसरे के मुताबिक हमें मिलते रहने चाहिए। जो अनुभव एक जगह आया वह हम दूसरी जगह भी ला सकते हैं। वह अनुभव वहीं तक सीमित नहीं रहना चाहिए। उसका लाभ दूसरों को मिलेगा तभी पूर्णता आयेगी। हम उनका अनुभवों का लेन-देन हो। कुल मिलाकर व्यूह-रचना का यह विचार हमारे मन में है। इसमें हमारी यात्रा का उपयोग तो हो ही सकता है। जब भी आपकी इच्छा हो, आ सकते हैं। कोई खास रुकावटें उसमें नहीं आतीं। यहाँ सब मिलकर आते हैं तो और काम मिलता है।

'विशेष' का उपयोग

भगवान् ने इतने मनुष्य निर्माण किये हैं, लेकिन एक का चेहरा दूसरे से नहीं मिलता। ऐसे कुछ थोड़े लोग होते हैं उनको मराठी में 'जीत थे' कहते हैं, उनसे थोड़ा-सा फर्क होता है। कभी कभी हाथ के जो चिह्न होते हैं, उन पर से भी पहचानते हैं। वैसे स्वभाव में और अनुभव में भी फर्क होता है। यह एक शिक्षण का विषय है। यह शिक्षण पुस्तकों का शिक्षण और मानस शिक्षण। मुख्यतया शिक्षण के तीन विभाग होते हैं—स्वभाव, अनुभव और शिक्षण। इन तीनों से मनुष्य बनता है। विशिष्टता हरएक की अपनी-अपनी होगी। हरएक मनुष्य अपने में स्वतंत्र है, परमेश्वर की प्रतिमा है। हर मनुष्य की अपनी कुछ चीज होती है, जिसे 'विशेष' ही नाम दिया गया है। हमारे यहाँ एक दार्शनिक हो गये हैं, जो 'वैशेषिक' दर्शनकार कहलाते हैं। पूछा गया कि यहाँ में जितने गुण और धर्म हैं उतने सबके सब हटा दिये जायँ तो शेष क्या रहेगा? जैसे बौद्ध विचारकों ने कहा : "शेष शून्य रहेगा।" वेदान्त ने कहा : "सब गुण और धर्म हटायेंगे, तो शेष ब्रह्म रहेगा।" 'वैशेषिक' दर्शनशास्त्री ने कहा : "सब गुण और सब धर्म हटाने पर भी उसका एक 'विशेष' बच रहेगा, जिसके कारण यह वही और यह है।" वैशेषिक का मतलब एक विशेष

गुण है और पानी के भी अपने विशेष गुण हैं। 'घटे घटत्वं पटे पटत्वं' घट है तो घट है, पट है तो पट है। यह 'त्वं' क्या है? यह गुण दोनों के समान हैं, वे सब हट गये तो फिर क्या बचेगा? आखिर में क्या रहेगा? हर चीज में अपनी विशेषता है। वह रहेगी। इसलिए वह 'विशेष' एक स्वतंत्र पदार्थ है। उसकी गिनती न गुण में होती है, न कर्म में, न द्रव्य में।

दार्शनिक इस प्रकार से सोचते हैं। मैं इतना गहरा नहीं जाना चाहता। इतना ही कहना चाहता हूँ कि हरएक में अपना अपना विशेष होता है। उस विशेष कारण से ही उसके जीवन का अपना स्वतंत्र मूल्य होता है। हरएक के जीवन का एक सामूहिक मूल्य होता है और एक स्वतंत्र मूल्य। वह स्वतंत्र मूल्य कभी क्षीण नहीं होता। वह 'विशेष' है।

हरएक का अपना-अपना विशेष है। वे विशेष कभी-कभी एक-दूसरे को चुभते हैं। लेकिन मुझे नहीं चुभते। वे मुझे प्रिय मालूम होते हैं। मिर्च की अपनी रुचि अलग होती है, शहद की अपनी रुचि होती है। शहद की मिठास मिर्च में दाखिल हो जाय तो वह मिर्च नहीं रहेगी। आखिर में क्या है? नमक अगर अपना स्वाद छोड़ दे तो किस काम का? मेरी बात ऐसी है कि चुभनेवाले गुण मुझे बहुत प्रिय होते हैं। वे गुण चुभें नहीं और कामकारी भी हों, ऐसी युक्ति हम निकाल सकते हैं। मिर्च का भी अपना उपयोग है। उसका उपयुक्त जगह पर उपयोग कर लिया जाय तो लाभदायी हो सकता है। उपयोग करना नहीं आया तो फिर वे चुभ सकते हैं।

दो विचारधाराएँ

प्राचीन काल में दुनिया में दो विचारधाराएँ चली आयी हैं, एक है चित्त बनाने की, दूसरी है समाज बनाने की। चिंतन में और इतिहास के शास्त्र में चली हुई नव समाज में भी दो विचारधाराएँ हैं।

१ लोगों को उनकी शक्ति का प्रत्यक्ष भान कराकर उनका जीवन बदलने में मदद करनेवालों की यानी साक्षात् सेवा करनेवालों की।

२ लोग स्वयं उतना नहीं कर सकते, इसलिए उनके प्रतिनिधि चुनकर, उनका आधार लेकर एक योजना करके हस्तान्तरित सेवा की बात करनेवालों की। एक भाई ने मुझे लिखा है कि हस्तान्तरित सेवा में एक पेचभी है। टेबुल भूमि को छूता है, मेरा हाथ टेबुल को छूता है तो क्या मेरा हाथ भूमि को छूता है, ऐसा हो जाता है। वैसे प्रतिनिधियों का लोगों से संपर्क नहीं रहता। बीच में अधिकारी-वर्ग होता है। तो वह परोक्ष संपर्क है। आज दोनों की दोनों विचारधाराओं की गरज है, ऐसा दोनों मान रहे हैं। अलगसे अपना अपना महत्त्व देते हैं, लेकिन सेवा में जो अनुभवी लोग हैं वे कहते हैं कि दोनों की जरूरत है।

अभी पंडित नेहरू ने शान्ति-परिषद् के सामने व्याख्यान में कहा "कोई राष्ट्र सेना-शस्त्रादि के परित्याग का निर्णय करता है और किन-शक्ति निर्माण करता है, तो काम है। दुनिया में उसे कोई खतरा नहीं हो सकता। इस पर मेरा विश्वास है।" और यह कहा है कि "अहिंसा के सिद्धान्त को मैं पूरी तरह मानता हूँ, लेकिन कोई अगर कमजोरी के साथ करे, तो चीज बिल्कुल दूसरी होती है। एक सरकार जिस तरह कर सकती है वैसा नेता नहीं कर सकता।"

कुछ लोगों को लगता है कि सेना अनिवार्य है। इन सिद्धान्तों को लेकर वे सोचते हैं, तो दूसरा रंग चढ़ता है। महाभारत के काल से यही चला आ रहा है। अहिंसा का पालन तो परिपूर्ण व्यक्ति कर सकता है, भले सामाजिक राष्ट्र कुछ भी हो। यह जो विचार है, वह सब धर्मों में है।

'सप्तमेन समर्थं' यह सिद्धान्त है। उसके लिए मान्यता यह है कि

यह व्यक्ति के लिए ठीक है समाज के लिए नहीं। इतना कहने से उसकी उपयोगिता सीमित हो गयी। दूसरे कहते हैं कि समाज के लिए भी यह ठीक है। लेकिन आज की हालत में यह ठीक नहीं। आगे जो समाज आनेवाला है, उसमें यह चलेगा। इसमें भी उसका आज के लिए उपयोग, सामाजिक उपयोग खत्म हो गया है। तीसरा विचार यह है कि सत्य से अन्तर कल्याण होगा लेकिन वह पारलौकिक और आध्यात्मिक होगा। ऐहिक कल्याण होगा यह भरोसा नहीं। आज हम सत्य पर कायम रहें तो कष्ट भी हो सकते हैं। परलोक उत्तम बनेगा। परलोक एक काल्पनिक वस्तु है।

१ व्यावहारिक जगत् में 'सत्यमेव जयते' लागू नहीं होता परमार्थ में लागू होता है। २. व्यक्ति के लिए लागू होता है, समाज के लिए नहीं। ३ समाज के लिए लागू होता है लेकिन आज के समाज के लिए नहीं कल के समाज के लिए। इस तरह तीनों प्रकार से हम उत्तम विचार को मान्य करते हुए भी उसे अपने से दूर ढकेलते हैं। अपने को अलिप्त रखने की यह वृत्ति प्राचीन काल से सब धर्मों में चली आयी है। एक हैं उपाधि को स्वीकार लेना करनेवाले और दूसरे हैं सिद्धान्तों का सीधा प्रयोग करनेवाले। दूसरे प्रकार के लोग यह मानते हैं कि सिद्धान्तों में हानि नहीं होती। उनका पालन करने के कारण ईसामसीह मारे गये, लेकिन उन्होंने कहा स्वर्ग का राज्य मेरा होगा। उन्हें 'किंग आफ दी ज्यू'—यहूदियों का राजा कहते हैं। किसीने उनका राज्य नहीं देखा लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से ऐसा काम करने से कोई नुकसान नहीं है, यों माननेवाले कुछ लोग ऐसे प्रयोग करते हैं। अभी पंडित नेहरू ने कहा था कि अवतार और नेता में फर्क है। ये दो विचारधाराएँ गांधीजी के साथ रहनेवालों में दीखती हैं। दोनों एक चीज को मानते हुए भी कभी एक दूसरे के बिल्कुल विरुद्ध जाती हैं। लेकिन कभी-कभी आमने-सामने खड़े हो सकते हैं।

शुक-शंकर, जनक-विष्णु का आदर्श

हमने कहा था कि भारत में एक जमात ऐसी हो जो भरत के समान राजनीति में रहकर सेवा का काम करे और दूसरी जमात लक्ष्मण के समान वन सेवा करनेवाली हो। एक होंगे शिव के जैसे वैराग्य-सम्पन्न और दूसरे होंगे विष्णु के जैसे जो जानते ही नहीं कि लक्ष्मी कहाँ बैठी है! यद्यपि लक्ष्मी उनके पास ही है। एक होंगे शुकदेव के जैसे और दूसरे जनक महाराज के जैसे। हमने साम्यसूत्र में एक सूत्र बनाया है कि 'शुक-जनकयोरेकः पंथाः' —शुक और जनक का एक ही मार्ग है। आभास तो यह होता है कि शुक और जनक दो रास्ते से जा रहे हैं। इस तरह जो सत्ता में जायँ उन्हें जनक महाराज भरत और विष्णु का आदर्श मानना चाहिए। और जो सीधी जनता की सेवा करें उन्हें शुकदेव लक्ष्मण और शंकर का आदर्श मानना चाहिए।

संतों की दो परम्पराएँ

संतों में इस तरह दो प्रकार की परम्पराएँ थीं। कोई कबीरदास जैसे थे और कोई तुलसीदास जैसे। तुलसीदास ने समाज को धर्मनिष्ठ-मर्यादित किया और कबीर इसे बिलकुल पसंद नहीं करते थे। यद्यपि बाद में उनके शिष्यों ने यह काम किया फिर भी जहाँ तक कबीर का ताल्लुक है वह जिंदगीभर काशी में रहा लेकिन मरने के लिए मगहर गया। क्योंकि उस समय यह माना जाता था कि काशी में मरना अच्छा है और मगहर में मरना बुरा। तो जो कल्पनाएँ भ्रम में थीं उन्हें तोड़कर क्रांति की ओर मरने की भिन्न प्रतिभा उनमें थी। तुलसीदासजी की प्रतिभा यह थी कि समाज का आलंबन किया जाय। दोनों में समाज के साथ संबंध नहीं गया। जिन्होंने समाज के साथ संबंध रखा उनमें मुहम्मद पैगम्बर आते हैं। मुहम्मद पैगम्बर आध्यात्मिक पुरुष थे। इस तरह हम दो परम्पराएँ देखते

डरने से लड़ना अच्छा

'हम हिजरत करेंगे' यों कहकर मुहम्मद साहब कुछ लोगों को साथ लेकर दूसरी जगह गये। तब तक का उनका चिंतन पूर्ण अहिंसक था। नये स्थान पर भी वे सताये जाने लगे। उनके साथी डरने लगे। उन्होंने साथियों को समझाने की कोशिश की कि परमेश्वर हमारे साथ है। परमेश्वर ने हमें बुद्धि दी है कि हिजरत करो और उसने शक्ति भी दी है। तो यह सारी उसकी देन है। इसके बावजूद अनुयायी डरने लगे, तो उन्होंने कहा कि डरने की अपेक्षा तो तलवार की सेवा में लड़ना अच्छा है। वे बहादुर लोग थे इसलिए 'जहाद' में भी उनका सार ही जाती थी। यानी उसमें भी सब्र का ही सवाल था। लेकिन इस तरह शस्त्र लेकर लड़ने की बात आयी। उसमें भी उन्होंने सबको समझाया कि लड़ते समय गुस्सा नहीं आना चाहिए। गुस्सा आये तो शस्त्र नहीं चलाना चाहिए। यही विचित्र बात गीता में भी आयी है। वहाँ पर वह शास्त्रीय ढंग से लिखी गयी है। वहाँ पर युद्ध तो एक निमित्तमात्र आध्यात्मिक के रूप में खड़ा किया गया है। इसलिए गीता में वह चीज नहीं है जो पैगम्बर ने कही। गीता का हमेशा आध्यात्मिक ही अर्थ किया जाता है। उसमें युद्ध की पृष्ठभूमि जरूर थी लेकिन गीता पर आज तक जितने भाष्य हुए हैं, सब आध्यात्मिक ही हुए हैं। इन दिनों कुछ व्यावहारिक भाष्य लिखे गये हैं। लेकिन उधर अरब में ऐसा नहीं हुआ। लोगों से कहा गया था कि भागने से तो लड़ना बेहतर है। ठीक यही बात गांधीजी ने इस जमाने में कही थी कि डरपोक होकर भागने की अपेक्षा शस्त्र उठाना ठीक है। लोग बार-बार उसीका जिक्र करते हैं।

अरब में आखिर जब राज सत्ता उन लोगों के हाथ में आयी तब भी यम-नियम में रहकर चले। इसकी उत्तम मिसाल खलीफा उमर की है। वह लड़ रहा था, उसने दुश्मन को नीचे गिराया और उसे मारने के लिए तलवार खींची कि इतने में नीचे गिरे हुए आदमी ने उस पर थूक

दिया। तो खलीफा उमर ने उसको छोड़ दिया। साथियों ने पूछा कि आपने यह क्या किया? वह आपके हाथ में आ गया तो उसे छोड़ क्यों दिया? खलीफा ने कहा कि मुझे गुस्सा आया इसलिए छोड़ दिया। यह मिसाल इसलिए दी कि इस पर से आपके ध्यान में आयेगा कि वे किस तरह आध्यात्मिकता के साथ काम करते थे। गुस्सा आया माने पर्सनल एलिमेण्ट दाखिल हुआ तो फिर हम युद्ध करने के लिए नालायक साबित हुए। इतना सब होते हुए भी आखिर में तलवार तो तलवार ही है। इसलिए उसके साथ अनेक प्रकार के अत्याचार आये और तलवार गालिब हुई, प्रभावी हुई, धर्म-विचार गौण पड़ा। यह मेरी मीमांसा है। इतिहासकार इसे नहीं मानेंगे।

गांधीजी का अगला कदम

इस जमाने में गांधीजी राजनैतिक क्षेत्र में थे। वे बार-बार कहते थे कि मैं तो एक आध्यात्मिक प्रयोग कर रहा हूँ। सत्य अहिंसा को छोड़कर मुझे स्वराज्य नहीं चाहिए। सत्य के लिए मैं स्वराज्य को छोड़ सकता हूँ। फिर भी भारत में स्वराज्य की वासना से हिंसा का उपयोग किया गया तो आखिर में वही गालिब हुई, अहिंसा दब गयी, याने जो प्रयोग मुहम्मद पैगम्बर का था वही प्रयोग हुआ। सिर्फ इतना ही फर्क है कि वहाँ पर तलवार की इजाजत दी गयी थी जो गांधीजी ने नहीं दी। इतना विकास हुआ। लेकिन प्रयोग वही था।

बुद्ध का शुद्ध प्रयोग

इसमें बिलकुल ही न पड़नेवाला प्रयोग गौतम बुद्ध ने किया। उन्होंने धर्म प्रचार पर जोर दिया और कहा : "चरथ भिक्खवे चारिकम् बहुजन-हिताय बहुजन सुखाय। — हे भिक्षुओ, तुम बहुजन हित के लिए और बहुजन सुख के लिए चला करो।" और वे निकल पड़े।

सत्ता के साथ चढ़ा व सत्ता के साथ टूटा

जहाँ शीघ्र परिणाम की अपेक्षा आ जाती है, वहाँ उसके साथ सत्ता जुड़ जाती है। अशोक के जमाने में धर्म के साथ सत्ता जुड़ी और तब से हिन्दुस्तान में झगड़ा शुरू हुआ। यद्यपि अशोक ने तलवार का परित्याग किया था तो भी राजसत्ता का पूर्ण उपयोग किया था। नालन्दा में हमने एक चित्र देखा। वहाँ पर रथी महारथी अतिरथी होकर आये हैं, लेकिन उनमें से किसीका उस चित्र की तरफ ध्यान नहीं गया। वहाँ पर बा कॅवहर है, उसमें एक चित्र ऐसा है कि शिवलिंग पर बौद्ध भिक्षु पाँव रख रहा है। यह एकदम ध्यान खींचता है। इसका अर्थ यह है कि उस जमाने में एक तीव्र विरोध चला होगा। मुझे बहुत ही आश्चर्य हुआ कि इस तरफ लोगों का ध्यान कैसे नहीं गया। वहाँ पर कई अच्छी चीजें हैं, लेकिन नालन्दा का नाम लेते ही मुझे उस चित्र की याद आती है। जो चीज सत्ता के साथ चढ़ी, वह सत्ता के साथ ही टूटी। उसे तोड़ने में और चीजें मददगार हुई।

शुद्धता और शीघ्रता के दो प्रवाह

इस तरह दो प्रवाह चले आते हैं। एक प्रवाह यह है कि हम परिशुद्ध विचार का ही प्रचार करते हुए चले जायें फिर उसमें भले ही देर क्यों। दूसरा प्रवाह यह कि जो परिस्थिति है, उसे मन्दतर समझकर जल्द-से जल्द विचार अमल में लावें, इसलिए मर्यादा के अन्दर रहकर जितनी कोशिश हो सके उतनी की जाय। अनुभव यह है कि मर्यादा के अन्दर नहीं रहा जाता है। बापू के जमाने में आखिर हिंसा फूट निकली। मर्यादा के अन्दर रहने की बात नहीं चली।

अणु-युग में राजनीति और धर्म-पंथों का स्थान नहीं

बापू के जाने के बाद दुनिया में बहुत बड़ा अन्तर हुआ है। जमाना ही बदल गया है। आणविक अस्त्र आ गये हैं। जैसे ये बापू के रहते ही

आये थे लेकिन इन पन्द्रह सालों में उनमें जो वृद्धि हुई है, वह इस पहले हजार साल में नहीं हुई थी। ऐसी हालत में 'पॉलिटिक्स' और 'रिलीजन' 'आउट आफ डेट' हो गये हैं। राजनीति और धर्म पन्थों का जमाना बीत गया है। ये दोनों चीजें टिकनेवाली नहीं हैं। वैसे पहले भी टिकनी नहीं चाहिए थीं लेकिन उस समय उनसे कुछ हानि होती थी तो उसके साथ साथ लाभ भी होता था और शायद ज्यादा होता था। अब उनसे जो लाभ होता है वह इतना नगण्य है और हानि इतनी अधिक है कि कुल मिलाकर लाभ की कोई गिनती ही नहीं है। इसलिए वे दोनों आउट आफ डेट हो गये हैं। यह बात मैं कश्मीर की यात्रा से बोल रहा हूँ।

श्रीनगर में हमने कहा था कि मैं कोई भी किताब सिर पर उठाने के लिए राजी नहीं हूँ न वेद, न कुरान, न बाइबिल। हमारे मित्र यह सुनकर डर रहे थे कि इसका क्या असर होगा? लेकिन लोगों पर इसका खराब असर नहीं हुआ। अच्छा ही हुआ। यह देखकर हमें भी आश्चर्य हुआ। उस व्याख्यान से मुझे अपने नसीब का पता चला, ऐसा मैंने माना। उसे लोग ग्रहण करते हैं, तो वे अहिंसा को मानेंगे नहीं तो यहाँ पर हमारा पूरा विरोध होगा। लेकिन लोगों ने उसे ग्रहण किया विरोध नहीं किया।

अब हमारे सामने यह प्रश्न खड़ा है कि क्या हम सत्ता को अपने उसके प्रतिनिधियों को पकड़ेंगे और सत्ता के जरिये काम होगा यह श्रद्धा हम रखेंगे या सत्ता में हमारा विश्वास नहीं है, जनता स्वयं काम करेगी यह श्रद्धा रखेंगे? आज जो 'डिमोक्रेसी' 'ओटोक्रेसी' आदि जितनी भी 'क्रेसीज' हैं, उन सबका अंतिम आधार फौज है। जितने भी 'इज्मस' हैं याद रहे, वे सब शक्तिसेवी के भक्त हैं। उसमें कम्युनिज्म, सोशलिज्म और सब 'इस्ट-मनिज्म' आ जाते हैं। सभी सोचते हैं कि सत्ता के जरिये दुनिया में काम होगा। कुछ लोग कहते हैं कि हम सत्ता में नहीं जायेंगे लेकिन सत्ता के जरिये काम करवायेंगे। हमारे साथी जो इस आंदोलन में हैं वे ठीक-ठीक कामनीन करें, तो

पता चलेगा कि ऐसी वृत्ति हममें भी है। यह वृत्ति पहले मुझमें भी थी और आपको मेरे पहले के कुछ ऐसे वचन भी मिलेंगे कि हमारा असर सत्ता पर होना चाहिए। यद्यपि सत्ता का खतरा मेरे ध्यान में था तथापि उस विचार से मैं परिपूर्ण निवृत्त नहीं हुआ था। फिर जब आणविक अस्त्र का दर्शन हुआ, तो मुझे लगा कि अब शुद्ध अहिंसा का जमाना आया है।

आश्रम और अहिंसक आन्दोलन

अहिंसक आन्दोलन को मैं आश्रम से अलग नहीं करता इसलिए आश्रमवालों को सुनाना चाहता हूँ कि मैं आपके आश्रमों की कद्र कीमत नहीं करूँगा अगर आप अहिंसात्मक क्रांति के काम में नहीं जुटेंगे। आश्रम कोई पाँच एकड़ जमीन में नहीं होता। वह तो मनुष्यों में होता है। आश्रम कभी टूटता ही नहीं। इसलिए यदि अहिंसक आन्दोलन की सफलता के लिए हमारे सबके सब आश्रमों की आहुति हो जाय, तो अच्छा ही होगा। इस तरह बार-बार आश्रमों की आहुति हो और बार बार उनका नया-जन्म हो। हमें बीते-भी पर देखने का मौका मिला कि नये नये आश्रम पैदा हो रहे हैं और तेजस्वी बन रहे हैं। हमारे मन में यह नहीं है कि आश्रमों को वैसे-तैसे बचाना ही है। आश्रमवाले पूरा अभियानों में जरूर हिस्सा लें। कभी आश्रम साल-दो साल के लिए बंद कर जाना पड़े तो भी अफसोस मानें, यह हमारी मनःस्थिति है। •

आश्रम दीपवत्

हमने जगह जगह आश्रम खड़े किये। अब और कोई नया आश्रम बनाने की वृत्ति नहीं है। हिन्दुस्तान के तीन कोने में तीन आश्रम बने और बीच में भी तीन आश्रम हैं। अगर उनमें प्राण हों, तो सारे हिन्दुस्तान को व्याप्त करने के लिए वे पर्याप्त साधन हैं। शंकराचार्य ने हिन्दुस्तान के चार कोने में चार आश्रम स्थापित किये और ऐसे जमाने में, जब उनका एक-दूसरे से संपर्क असंभव था। वैसे चलते-चलते कुछ संपर्क हो सकता था लेकिन पुरी के आदमी का शृंगेरी के आदमी से मिलना कठिन था। हो सकता है कि बीच में वे सब नर्मदा के किनारे आते हों और एक दूसरे से बातें करते हों। यथा, नागपुर और इंदौर इसके ही बीच का स्थान है। पुराने जमाने में नर्मदा की परिक्रमा की जाती थी। पर भारत की एकता के लिए बहुत बड़ी बात थी। ऐसे जमाने में इतने दूर आश्रम स्थापित करके उन्होंने चार मनुष्यों को बिठाया तो अंदर न कितनी श्रद्धा थी कि ये दीपक का काम करेंगे। उन आश्रमों ने वैसा काम किया भी। अब बारह सौ साल के बाद आश्रमों में उनकी प्रभा कुछ मंद पड़ी है। वैसा होता ही है। लेकिन कुछ मिलाकर उन्होंने भारत की बहुत सेवा की। इन दिनों आवागमन के साधन हैं, इसलिए ऊर आश्रम बनाये हैं, तो कोई बड़ी बात नहीं है। इन आश्रमों का अधिष्ठान परमेश्वर की भक्ति न हो तो ये आश्रम कुछ भी काम न कर सकता। ये जो छः आश्रम बने उन सबका उद्देश्य अलग-अलग है।

समन्वय आश्रम

समन्वय आश्रम बोधगया (बिहार) में है। इसकी स्थापना अप्रै [illegible]

भारतीय संस्कृति ध्यान और जीवन का विकास समन्वय की पद्धति से हुआ है। ब्रह्म-विद्या का आधार और जीवमात्र के लिए अहिंसा का विचार, ये दो बातें उसकी बुनियाद में हैं। ध्यान के अध्ययन और प्रत्यक्ष जीवन के प्रयोग की अपेक्षा समन्वय आश्रम से है।

आश्रम के सामने ही बुद्ध मंदिर है। फिर भी शान्त और एकांत स्थान है, वहाँ कार्यकर्ता विश्राम के लिए आते हैं। आसपास के लोगों की उसे सहानुभूति हासिल है। बोधगया में यात्री या भिक्षु आते हैं, उनसे संपर्क करना, उनके अनुभव सुनना, अपने अनुभव सुनाना, भारतीय ढंग से अच्छा आतिथ्य करना तथा अंतरराष्ट्रीय संबंध बढ़ाना यह अपेक्षा भी आश्रम से है। बोधगया गाँव स्वच्छ हो, हर पूर्णिमा को वहाँ यात्रा का आयोजन हो। परस्पर धर्म-चर्चा हो, ध्यानादि साधना हो तथा 'सर्वेषाम् अविरोधेन' ब्रह्मकर्म (उत्पादक श्रम) की उपासना भी हो, तो प्राथमिक काम पूरा होता है।

ब्रह्मविद्या मंदिर

ब्रह्मविद्या मंदिर, पवनार, जिला वर्धा में है। उसका उद्घाटन १४ मार्च १९५९ को अजमेर सम्मेलन के बाद हुआ।

उद्देश्य : १. ब्रह्मविद्या याने परमात्मा की प्राप्ति इस जगत का ध्येय है। इस ध्येय की सिद्धि के लिए हमने ब्रह्मविद्या मंदिर में यह अपेक्षा रखी है कि स्त्रियों की शक्ति जाग्रत हो। उसका उपयोग व्यापक सामाजिक जीवन का नमूना रखने में हो, ताकि विश्व में अहिंसक शक्ति के विकास की दिशा शुरू सके।

२. आध्यात्मिक परंपरा में स्त्रियों को प्रवचन का अधिकार नहीं दिया गया। अब यहाँ प्रयत्न की भावना है एक नयी आध्यात्मिक परंपरा शुरू हो जिसमें स्त्रियों के अधिकार पुरुषों के समान रहें।

३. जीवन-व्रती स्त्रियों के लिए यह आश्रम मातृ-स्थान हो, जिसे केन्द्र मानकर व समाज के विविध कार्यों में भाग लेती रहें।

४ विविध भाषाओं की बहनें एक स्थान पर एकत्र हों और उन्हीं भाषाओं के अध्ययन व पारस्परिक परिचय से पूरे विश्व का प्रतिनिधित्व करें।

प्रस्थान आश्रम

पठानकोट (पंजाब) में है। इसकी स्थापना अक्तूबर '५९ में हुई। प्रस्थान आश्रम शांति-सेना का केन्द्र बने। यहाँ पर चिन्तन का काम हो और कश्मीर से जो मजदूर लाचार होकर ठंड में यहाँ आवें, उनकी सेवा हो। कम-से-कम उनके साथ हृदय का संपर्क बना रहे और उनकी तकलीफ में हम उनके साथ रहें। इसीलिए यह आश्रम बनाया गया है। यहाँ से पाकिस्तान कश्मीर और पंजाब नजदीक है। गुरुदासपुर जिले में ईसाई भी अधिक हैं। इस तरह सब धर्मवालों से संपर्क हो सकता है। यहाँ अगर हिन्दू-मुसलिम एकता का काम होगा तो सब सध जायगा। यह करने में चित्त की एकाग्रता होनी चाहिए।

विश्वनीडम्

बैंगलोर से ७ मील दूर यह आश्रम है। इसका उद्घाटन १८ अक्तूबर ६ को हुआ। उसके लिए हमने कोई कल्पना नहीं की है। कल्पना ही कठिन जाती है, क्योंकि इसकी विशाल दृष्टि रखी गयी है कि यहाँ पर दक्षिण की चार भाषाओं का एकीकरण हो उत्तर और दक्षिण का एकीकरण हो भारत और विश्व का एकीकरण हो। हिन्दुस्तान में विश्व की आध्यात्मिक दृष्टि से सेवा के प्रयोग की इच्छा हो यह विश्वनीडम् बने।

विसर्जन आश्रम

विसर्जन आश्रम, इंदौर (मध्यप्रदेश) में है। इसकी स्थापना १५ अगस्त ६ को हुई।

आज तक सर्वोदय-आन्दोलन के प्रयत्न मुख्यतः देहात को दृष्टि में रखकर हुए। नगरों में भी यह काम हो इसलिए इंदौर को चुना। इंदौर चार प्रदेशों (महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान मध्यप्रदेश) का मिलन-स्थान है और भारत के मध्य में पड़ता है। औद्योगिक नगर होते हुए भी यहाँ जनता की प्रकृति सौम्य है अर्थात् यहाँ संघर्ष और विग्रह की भावना कम है। श्री अहिल्याबाई होल्कर और कस्तूरबा केन्द्र के कारण यहाँ का महिला समाज जाग्रत और सेवारत है। जलवायु भी सौम्य है। इन सब कारणों से नगर अभियान के लिए इंदौर अनुकूल प्रातिनिधिक स्थान जान पड़ा और उसकी व्यूह-रचना में विसर्जन आश्रम खोला गया है। इस आश्रम का ध्येय 'सर्व विसर्जित यावन्मूल्य' पुराने बेकार मूल्यों का विसर्जन और नये उपयुक्त मूल्यों का (विशेष) सर्जन करना है। कार्यकर्ता आश्रम-प्रवृत्ति में न फँसें। वे नम्र, अहंकार मुक्त तथा संग्रह निरपेक्ष बनें तो काम जनता ही करेगी। इंदौर नगरवाले आश्रम की प्रवृत्तियों तथा व्यवस्था और योगक्षेम में रुचि लें ऐसी अपेक्षा है।

मैत्री आश्रम

मैत्री आश्रम लीलाबाड़ी हवाई अड्डे के समीप नार्थ लखीमपुर (असम) से १ मील की दूरी पर है। इसकी स्थापना ५ मार्च १९६२ को हुई।

मैत्री आश्रम का उद्देश्य, नियम और कार्यक्रम तीनों ही मैत्री है। मैत्री शब्द व्यापक है उपलक्षणात्मक है। उसमें प्रेम, करुणा, उपेक्षा आदि सब आ जाते हैं। यहाँ मानव के साथ सृष्टि के साथ और भगवान् के साथ मैत्री करने की अपेक्षा है।

देश की सीमा पर यह एक 'गुडविल मिशन' है। राष्ट्रीय एकात्मता

आसपास के ग्रामदानी क्षेत्र से संपर्क, स्त्री-शक्ति का विकास, सर्वोदय विचार का अध्ययन अध्यापन हो यह भी दृष्टि रखी है।

मैत्री आश्रम का यह स्थान इसलिए चुना है कि यहाँ पर नेफा बार्डर पास है। ग्रामों के साथ संपर्क रखा जा सकता है। लीलाबाड़ी हवाई अड्डा भी बिलकुल पास है। यहाँ का पत्र एक दिन में हिन्दुस्तानभर में पहुँच सकता है। यहाँ अनेक धर्मों और भाषाओं के लोग इकट्ठा हों और उनके जरिये समग्र प्रेम पैदा करने का काम हो।

उपर्युक्त इन छह आश्रमों के अलावा अपने पदयात्री दल को मैंने 'जंगम ब्रह्म-विद्या-मंदिर' नाम दिया है। यह भी एक चलता-फिरता आश्रम है।

जंगम ब्रह्म-विद्या-मंदिर

८ मार्च '५१ को बापू कुटी सेवाग्राम से शुरू हुई। शान्ति-यात्रा १८-४-'५१ को पोचमपल्ली में भूदान-यात्रा में बदली। उसके बाद तब की पदयात्रा ने आज जंगम ब्रह्म-विद्या-मन्दिर का रूप लिया है।

सुक्षेत्र जें पवित्र जें पूर्ण भक्ति-भाग्य ।
ईशा-स्मृतीस नित्य जें वाहिलें सुयोग्य ॥ १ ॥
मी तूं अहंममत्व जेथें सरोनि जाई ।
जेथें परस्परांची सेवा सदैव होई ॥ २ ॥
श्रमुनी हि जेथ सत्य विश्राम-सौख्य लाभे ।
माधुर्य ये रहाया जेथें सदैव लोभें ॥ ३ ॥
सगळे मिळूनि मैत्री जुळवूं सदैव साच ।
औत्सुक्य हें च जेथें करितें मनींच नाच ॥ ४ ॥
जेथ न सुव्यवस्था सहमत्व मात्र भेद ।
न स्थान जेथें म्हणुनी लेशास होड खेद ॥ ५ ॥
जेथ विद्यार्थ्यांचा होई विकास मार्ग ।
नाहीं सुगूढ फार सुविचाररूप याग ॥ ६ ॥
आधार जीवनाला बोधप्रकाश देई ।
जेथें तयामुळे च पुण्यास पार नाहीं ॥ ७ ॥
जेथें न भार कोणावरती समान सारे ।
सगळे लहान मोठे सगळे च धीर तारे ॥ ८ ॥
सगळे च मायबाप प्रिय बंधु मित्र देव ।
सगळ्या परम्परेची सगळी च जय टेव ॥ ९ ॥

ॐ स्थानं साधुभीनां गुरुसान्निध्यधाम ।
तापो समर्पणार्थे मधुर्ये समस्त नाम ॥ १ ॥

हिन्दी भावार्थ

जो पवित्र सुक्षेत्र है जो पूर्ण भक्ति-मार्ग ही है तथा जो नित्य हरि-स्मरण के लिए सुयोग्य हुआ है,

जहाँ मैं, तू और अहं-ममत्व समाप्त हो जाता है और परस्पर सदा एक-दूसरे की सेवा होती है,

जहाँ श्रम करने पर भी सदा विश्राम और आनन्द ही उपलब्ध होता है और जहाँ मधुरता लुब्ध होकर सदैव रहने के लिए आती है

जहाँ सब मिलकर हमेशा मित्रता का तथा विश्वास करें ऐसी उत्सुकता सदैव नृत्य करती है

जहाँ सुन्दरता और सहजता में भेद नहीं है और जहाँ खेद के रहने का स्थान नहीं है इसलिए खेद को खेद होता है,

जहाँ सब विद्याओं का ही विमर्श होता जाता है और गूढ़ तथा श्रेष्ठ सुन्दर विचाररूप वायु जहाँ बहती रहती है,

जहाँ बोध का प्रकाश जीवन को भास्वर देता रहता है और उसी कारण जहाँ पुण्य की कोई सीमा नहीं है,

जहाँ किसी पर बोझ नहीं है सब समान हैं जहाँ सब छोटे भी हैं और सब बड़े भी हैं, सब चंद्र भी हैं और सब तारे भी हैं,

जहाँ सब माँ भी हैं, बाप भी हैं, प्रेमी भी हैं मित्र भी हैं, भाई भी हैं गुरु भी हैं, और सब सभी हैं, परस्पर एक दूसरे की सारी धरोहर हैं—

ऐसा गुरु पद-कमल-धाम-स्थान हमें प्राप्त हो। समर्पण में हमारा सर्वस्व इसमें सम्पूर्ण विलीन हो।

•